ISSN 2455-6033

मीरायन

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित पत्रिका

वर्ष-18 अंक : 2 (पूर्णांक - 70) जून-अगस्त, 2024

मीरा स्मृति संस्थान चित्तौड़गढ़ की बहुअनुशासनिक त्रैमासिक शोधपत्रिका

मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) प्रबन्ध मण्डल

1.	प्रो. सत्यनारायण समदानी	:	अध्यक्ष
2.	डॉ. ए.एल. जैन	:	उपाध्यक्ष
3.	श्री अनिल कुमार शिशोदिया	:	उपाध्यक्ष
4.	सभापति, नगर परिषद् चित्तौड़गढ़	:	पदेन उपाध्यक्ष
5.	सी.ए. श्री अर्जुन मून्दड़ा	:	सचिव
6.	श्री विनायक द्विवेदी	:	कोषाध्यक्ष
7.	श्री ओम प्रकाश औदिच्य	:	सह सचिव
8.	श्री सुनील कुमार ढीलीवाल	:	सह सचिव
9.	कर्नल श्री रणधीर सिंह	:	कार्यकारिणी सदस्य
10.	श्री राजेन्द्र सिंह भाटी	:	कार्यकारिणी सदस्य
11.	श्री अरविन्द पुरोहित	:	कार्यकारिणी सदस्य
12.	श्री जयप्रकाश भटनागर	:	कार्यकारिणी सदस्य
13.	श्री लक्ष्मीनारायण दशोरा	:	कार्यकारिणी सदस्य
14.	श्री राकेशचन्द्र मंत्री	:	कार्यकारिणी सदस्य
15.	श्री प्रदीप दीक्षित	:	कार्यकारिणी सदस्य

पदेन कार्यकारिणी सदस्य

- प्रेसीडेन्ट, बिड़ला सीमेन्ट वर्क्स, चित्तौड़गढ़
- प्रेसीडेन्ट, आदित्य सीमेन्ट वर्क्स, आदित्यपुरम्, सावा
- लोकेशन हेड, हिन्दुस्तान जिंक लि., चित्तौड़गढ़
- यूनिट हेड, जे.के. सीमेन्ट वर्क्स, निम्बाहेड़ा
- अध्यक्ष, श्री साँवलियाजी मन्दिर मण्डल, मण्डपिया
- अध्यक्ष, चित्तौड़गढ़ मार्बल लघु उद्योग संस्थान, चित्तौड़गढ़

आर.एन.आई. पंजीयन संख्या - RAJHIN/2007/19628
ISSN 2455-6033

मीरायन

(साहित्यिक-सांस्कृतिक त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित पत्रिका

वर्ष-18, अंक-02 (पूर्णांक-70) जून-अगस्त, 2024

सहयोग राशि

वार्षिक
व्यक्तिगत : 300.00 रुपया
संस्थागत : 400.00 रुपया
आजीवन (दस वर्षीय)
व्यक्तिगत : 3000.00 रुपया
संस्थागत : 4000.00 रुपया
सहयोग राशि मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़ के पक्ष में नकद/ऑन लाइन/चैक/ बैंक ड्राफ्ट द्वारा भिजवाई जा सकती है।

कार्यालय एवं सम्पर्क-सूत्र
मीरा स्मृति संस्थान
मकान नं. 25, फ्रेण्ड्स कॉलोनी,
पार्वती गार्डन के पीछे, सेंथी,
चित्तौड़गढ़-312001 (राज.)
मो. 094141-48537

ई-मेल :
samdanisatya@gmail.com

प्रकाशन-तिथि
26 अगस्त, 2024

संस्थापक सम्पादक
कीर्तिशेष स्वामी (डॉ.) ओम् आनन्द सरस्वती

सम्पादक
सत्यनारायण समदानी

मीरायन के बैंक खाता का विवरण

1. खाता का नाम	**मीरा स्मृति संस्थान** (MEERA SMRITI SANSTHAN)
2. खाता संख्या	**SB A/c 51042428405**
3. बैंक शाखा	भारतीय स्टेट बैंक, कलक्टरेट शाखा, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)
4. IFSC	**SBIN0031237**

Designed by: उमेश अजमेरा,श्रीजी डॉट कॉम,चित्तौड़गढ़-9829079159

समस्त सम्पादकीय सहयोग अवैतनिक एवं मानद है। रचनाकारों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक/प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवाद चित्तौड़गढ़ न्यायाधिकरण क्षेत्र के अधीन होंगे।

मीरा स्मृति संस्थान के पूर्व अध्यक्ष

- डॉ. (श्रीमती) मालोविका पवार, आई.ए.एस. (रिटा.)
- डॉ. प्रमोद कुमार आनन्द, आई.ए.एस.(रिटायर्ड)
- श्री शैलेन्द्र कुमार अग्रवाल, आई.ए.एस.(रिटायर्ड)
- श्री संजय मल्होत्रा, आई.ए.एस.
- स्व.श्री सी.पी. व्यास, आई.ए.एस. (रिटा.)
- श्री मनोज शर्मा, आई.ए.एस.(रिटायर्ड)
- श्री रामरख, आई.ए.एस. (रिटायर्ड)
- श्री आर.एन.अरविन्द, आई.ए.एस.(रिटा.)
- डॉ. आर.एस.गठाला, आई.ए.एस.(रिटा.)
- स्व.श्री आशुतोष गुप्त, आई.ए.एस.(रिटा.)
- डॉ. पी.एल. अग्रवाल, आई.ए.एस. (रिटा.)
- डॉ. समित शर्मा, आई.ए.एस.
- डॉ. (श्रीमती) आरुषी ए.मलिक, आई.ए.एस.
- स्व. श्री सत्यनारायण काबरा
- स्व. एडवोकेट श्री भंवरलाल शिशोदिया

मीरायन पत्रिका के विद्वान परामर्शद्

- प्रो. (डॉ.) सदानन्दप्रसाद गुप्त, लखनऊ
  पूर्व कार्यकारी अध्यक्ष, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
- प्रो. जी. गोपीनाथन्, कालीकट
  पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा
- प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा, जयपुर
  पूर्व कुलपति, वर्द्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
- प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, उज्जैन
  आचार्य एवं अध्यक्ष, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- श्री ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल, जयपुर
  सन्त-साहित्य विशेषज्ञ

अनुक्रम

क्र.सं.	आलेख/रचना	पृष्ठ
1.	**मीरा-पद**	05
	1. **सन्त मीराबाई** (1) थें तो पलक उघाड़ो ..... (2) नहिं भावै थाँरौ	
2.	**मीरा-प्रशस्ति**	06
	2. **स्व. पं. शोभालाल शास्त्री दशोरा,** उदयपुर (राजस्थान) को मीराँ सम परम दयाल	
3.	**सम्पादकीय**	07
	3. **प्रो. सत्यनारायण समदानी,** चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) मनुस्मृति : विश्व का प्रथम मानव धर्मशास्त्र एवं आदिविधि शास्त्र-एक पर्यालोचन	
4.	**मीरा सन्दर्भपक्ष**	
	4. **डॉ. अशोक कुमार,** धर्मशाला (हिमाचलप्रदेश) कृष्ण काव्य परंपरा में मीराबाई का स्थान	11
	5. **डॉ. प्रेमसिंह,** जोधपुर (राजस्थान) मीराबाई की ऐतिहासिक छवियाँ : भक्तमाल और ख्यात साहित्य	15
5.	**संत-भक्त पक्ष**	
	6. **डॉ. सुरेशसिंह राठौड़,** बान्दरसिंदरी (किशनगढ़-राजस्थान) संत नागरीदास की काव्य चेतना	22
	7. **प्रो. (डॉ.) राकेश कुमार,** गान्धीनगर (गुजरात) प्राचीन वैज्ञानिक : ऋष्यशृंग ऋषि	28
	8. **डॉ. मलकीयत सिंह,** धर्मशाला (हिमाचलप्रदेश) संत कबीर का समाज दर्शन	32
	9. **डॉ. सुनील कुमार यादव,** विजयपुर (कर्नाटक) संपूर्ण विश्व की उत्कृष्ट संत साहित्य संपदा में 'अक्का' का नाम अजर-अमर रहेगा।	36
	10. **डॉ. हरजिन्दर सिंह एवं प्रो. चन्द्रकान्ता सिंह,** धर्मशाला (हिमाचल) पंजाब के सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण में निर्मला पंथ का योगदान	42
	11. **डॉ. वन्दना शर्मा,** हिसार (हरियाणा) सुन्दरकाण्ड के आधार पर हनुमान के चरित्र का अध्ययन व विश्लेषण	48
6.	**इतिहास पक्ष**	
	12. **श्री हर्षसिंह गहलोत,** जयपुर (राजस्थान) मुगल शासकों की उदार धार्मिक नीति : जैन दर्शन का प्रतिबिंब	51
	13. **सौरभराय एवं डॉ. राजीव कुमार,** नॉर्थ त्रिपुरा स्वजागरण में संन्यासी विद्रोह की भूमिका : बंगाल एवं बिहार के विशेष संदर्भ में	60

14. **डॉ. कुसुम राय,** महू-इन्दौर (मध्यप्रदेश) 66
बंगाल में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना : तथ्य एवं विश्लेषण
15. **डॉ. जितेन्द्र प्रताप सिंह,** रायबरेली (उत्तरप्रदेश)
रामायण में राष्ट्रवाद 70
16. **श्री अनुराम वर्मा,** वाराणसी (उत्तरप्रदेश)
कम्बोड़िया में भारतीय संस्कृति का प्रसार 74
17. **डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव,** प्रयागराज (उत्तरप्रदेश)
अशोक के गुजर्रा शिलालेख में संख्या 256 : 80
महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन की तिथि

7. संस्कृति-कलापक्ष

18. **डॉ. मुक्ति पाराशर,** कोटा (राजस्थान)
सूर्यमन्दिर-बूड़ादीत, कोटा : एक कलात्मक विश्लेषण 84
19. **रूकैया खानम् एवं डॉ. तनूजा सिंह,** जयपुर (राजस्थान)
टोंक के मौलाना अबुल कलाम आजाद अरबी-फारसी शोध संस्थान 87
में संग्रहित मुगलकालीन ग्रंथों का अलंकारिक सौंदर्य

8. साहित्य अनुशीलनपक्ष

20. **डॉ. मृणालिनी पारीक,** उदयपुर (राजस्थान)
कर्मफल व्यवस्था 93
21. **डॉ. प्रीति के.,** कन्नूर (केरल)
आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'अंधायुग' की प्रासंगिकता 100
22. **विकास कुमार,** लखनऊ (उत्तरप्रदेश)
गाँधी की दृष्टि में ब्रह्मचर्य 105

मीरा-पद

संत मीराबाई

(1)

थें तो पलक उघाड़ो दीनानाथ, सेवा में मीरा कद की खड़ी।।टेक।।

साजणियाँ दुसमण होइ बैठ्या, सबने लागूँ कड़ी।

तुम बिना साजन कोई नहीं है, डिगी नाव म्हारी समँद अड़ी।।

दिन नहिं चैन रैण नहिं निदरा, सूखूँ खड़ी खड़ी।

बाण बिरह को लग्यो हिया में, भूलूँ न एक घड़ी।।

पत्थर की तो अहिल्या तारी, बन के बीच पड़ी।

कहा बोझ मीराँ में कहिए, सौ पर एक धड़ी।।

(2)

नहिं भावै थाँरौ देसड़लौ रंगरूड़ौ।

थाँरा देसाँ माँ राणा साध नहिं छै, लोग बसै सब कूड़ौ।।

गहणा–गाँठा राणाँ हम सब त्याग्या, त्यागौ कर रौ चूड़ौ।

काजल टीकौ हम सब त्याग्या, त्याग्यौ छै बाँधन जूड़ौ।।

तन की मया कबहूँ नहिं कीना, ज्यूँ रण माही सूरौ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, वर पायौ छै पूरौ।।

– सन्दर्भ : मीराँ सुधा सिन्धु
सम्पादक : स्वामी आनन्द स्वरूप

को मीराँ सम परम दयाल

- स्व. पं. शोभालाल शास्त्री दशोरा, उदयपुर

को मीराँ सम परम दयाल,

श्री हरि भक्ति सुलभ जिहि कीन्हीं, घर-घर या कलिकाल।।0।।

देखि विविध-दुख सों जग व्याकुल, सहसा हिय भरि आयो।

धरि नर तनु जग आई सरल शुचि, भक्ति पन्थ प्रकटायो।।1।।

जन हित तजि कुल लाज प्रेम सौं, नाची गिरधर आगे।

परत नैन जलधार निरखि जन, हिय हरि सों अनुरागे।।2।।

पीयो घोर हलाहल विष हूँ, हरि चरणामृत मानी।

भया सुधा हू सों फलदायक, जाहिर जगत कहानी।।3।।

लखि पढ़ि सुनि सुचरित मीराँ के, तरेउ हजारन पापी।

अमर प्रेम की ध्वजा विश्व मह, अविचल मीराँ थापी।।4।।

अतिशय नीच दुष्टहु के सिर, करुणा करि कर फेरी।

लीन्ही लाय प्रेम युत उर सौं, नेकु न कीन्हीं देरी ।।5।।

निज भगिनी सम जानि दया करि, प्रेम हिये उपजायो।

कर गहि करुणा कर कर अर्पि, सुन्दर वदन दिखायो।।6।।

बरस करौर करौं तव सेवा, तऊ उऋण मैं नाहीं।

'चन्द्रकला' तेरे चरणाम्बुज, बिलसहु मम उर मांहीं।।7।।

साभार - मीराँ सुधा सिन्धु
सम्पादक : स्वामी आनन्द स्वरूप

सम्पादकीय

मनुस्मृति – विश्व का प्रथम मानव धर्मशास्त्र एवं आदि विधिशास्त्र : एक पर्यालोचन

भारतीय संस्कृति की वैदिक परम्परा में मनुस्मृति को एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु इसको लेकर आधुनिक काल में अनेक विवादास्पद टिप्पणियाँ की गई हैं। इस ग्रन्थ के आलोचकों का कथन है कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता, दलितों एवं महिलाओं को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित रखने जैसी भेदभावपूर्ण व्यवस्था मनुस्मृति की देन है। डॉ. भीमराव अंबेडकर इसके प्रखर आलोचक थे जिन्होंने जातिगत भेदभाव एवं अस्पृश्यता के दंश से व्यथित होकर 27 दिसम्बर 1927 को एक सार्वजनिक कार्यक्रम में इस पुस्तक को आग के हवाले कर दिया। इसी क्रम में सन् 1936 मं प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Annihilation of Caste' में उन्होंने मनुस्मृति की आलोचना करते हुए लिखा कि हिन्दू समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था, जो कि मनुस्मृति की देन है, ने समाज के एक बहुत बड़े तबके-निचली जातियों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित कर उन्हें विकास की मुख्य धारा में आने और आगे बढ़ने से रोका है। मनुस्मृति की आलोचना मुख्यतः दो बिन्दुओं के आधार पर की जाती है-

(1) यह दलित विरोधी और समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को स्थापित करने वाली भेदभावपूर्ण एवं अन्यायकारी व्यवस्था को जन्म देती है, और उसे प्रोत्साहित करती है।

(2) मनुस्मृति महिला विरोधी ग्रन्थ है जो महिलाओं की स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित कर उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा में आने से वंचित करती है।

भारत में जाति व्यवस्था और जातिगत भेदभाव का सिद्धान्त पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा प्रवर्तित आर्य आक्रमण के सिद्धान्त का ही परिणाम है। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल में भारतीय इतिहास लेखन का सूत्रपात हुआ, जो नस्लीय पूर्वाग्रहों और विदेशी शासन के निहित हितों से प्रेरित होकर लिखा गया। मार्टीमर व्हीलर नामक विद्धान ने आर्य आक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह निष्कर्ष दिया कि आर्यों ने आक्रमण कर भारत के मूल निवासियों की सिन्धुघाटी- हड़प्पा सभ्यता का विनाश कर दिया। इसी क्रम में मैक्समूलर ने मध्यएशिया से 1500 ई.पू. में आक्रमणकारी आर्यों के भारत में आगमन की कल्पना कर डाली। इन्हीं आर्यों ने भारत में जाति व्यवस्था की नींव रखकर अपनी सर्वोच्चता और मूल निवासियों अर्थात् द्रविड़ों को जातिगत पायदान में नीचे धकेल दिया। आर्य आक्रमण का यह सिद्धान्त यद्यपि ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों द्वारा गलत एवं काल्पनिक सिद्ध किया जा चुका है, परन्तु त्रासदी यह है कि स्वतन्त्र भारत में वामपंथी इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहास ग्रन्थों का यह एक अभिन्न अंग बना रहा।

मनुस्मृति ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि इसके प्रणेता मनु हैं। वैदिक धर्म-दर्शन के अनुसार मानव सृष्टि के आदिपुरुष स्वायंभुव मनु थे, और प्रथम स्त्री शतरूपा थीं। इन्हीं की संतानें मानव या मनुष्य कहलाई। भारतीय आर्षग्रन्थों में कालगणना युग, महायुग, मनवन्तर और कल्प के रूप में की गई है। पुराणों में 14 मनवन्तरों का उल्लेख है। सृष्टि के सृजन और प्रलय का एक चक्र निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक मनवन्तर का आदिपुरुष एक मनु होता है जिसके नाम पर मनवन्तर का नाम पड़ता है।

विद्वानों ने स्वायंभुव मनु का जन्म ईसा पूर्व 9500 से 8762 ई.पू. माना है। इस दृष्टि से उनके द्वारा रचित मनुस्मृति कम से कम आज से दस हजार वर्ष पूर्व की रचना होनी चाहिए। वैदिक परम्परा में मनु को ही भारतीय समाज और राष्ट्र का निर्माता माना गया है। मानव समाज को शिक्षित, विकसित और कर्त्तव्यशील बनाने के लिए ही मनु ने धर्म, शिक्षा, समाज व्यवस्था और कानून की रचना की, जो मनुस्मृति के नाम से विख्यात है। यह वस्तुतः धर्मग्रन्थ न होकर उस काल में प्रचलित धर्मसूत्रों के आधार पर रचा गया 'मानव धर्मशास्त्र' था।

सन् 1932 में जापान द्वारा चीन पर किये गए बम विस्फोट के कारण चीन की ऐतिहासिक दीवार का एक भाग टूट गया। उस क्षतिग्रस्त भाग से लोहे का एक ट्रंक मिला जिसमें चीनी भाषा में लिखी हुई एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई जिसे सर ऑगस्टस रिट्ज जॉर्ज ने ब्रिटिश म्यूजियम में रखवा दिया। बाद में प्रो. एन्थोनी ग्रेम ने चीनी विद्वानों से इसे पढ़वाया। इस हस्तलेख में उल्लेख है कि मनु का धर्मशास्त्र भारत में सर्वाधिक मान्य है, जो 680 श्लोकों में वैदिक संस्कृत में दस हजार वर्ष से भी अधिक पूर्व लिखा गया था। चीन की दीवार का निर्माणकाल ईसा पूर्व 220 से 206 मान्य है। इससे अनुमान लगता है कि यह हस्तलेख ई.पू. 220 से भी पहले लिखा गया। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने माना कि मनुस्मृति की रचना अब से लगभग 12300 वर्ष पूर्व की गई थी।

ऐतिहासिक प्रमाण भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भगवान राम का जन्म 5114 ईसा पूर्व में होना माना जाता है। उन्हीं के काल में रचित वाल्मीकि रामायण में मनुस्मृति के श्लोक ज्यों के त्यों लिये गए हैं। जबकि मनुस्मृति में भगवान राम और वाल्मीकि का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार ईसा पूर्व 3150 के लगभग लिखी गई महाभारत में भगवान मनु की बार-बार चर्चा है, कुछ श्लोक भी इसमें मनुस्मृति के उद्धृत हैं किन्तु मनुस्मृति में भगवान कृष्ण, वेदव्यास एवं महाभारत का उल्लेख नहीं है। ऐसे अनेक तथ्यों के आधार पर बुहलर, प्रो. पी.वी. काणे आदि विद्वानों ने मत प्रकट किया कि अत्यन्त प्राचीनकाल से मनु के नाम से धर्मशास्त्रीय विषयपरक वाक्य भारत में प्रचलित थे, और इन्हीं वचनों या धर्मसूत्रों के आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का लेखन किया गया।

मनुस्मृति की गणना विश्व के ऐसे ग्रन्थों में की जाती है जिनसे मानव ने समाज रचना, समाज व्यवस्था और वैयक्तिक आचरण की प्रेरणा ग्रहण की। यही कारण है कि विश्व के अनेक देशों में मनु एवं मनुस्मृति की प्रतिष्ठा विद्यमान है। ब्रिटेन, अमेरिका एवं जर्मनी से प्रकाशित विश्वकोशों में मनु को मानव जाति का आदिपुरुष, आदिसमाजव्यवस्थापक, आदिधर्मशास्त्रकार, आदिविधिप्रणेता और आदिन्यायशास्त्री बताया गया है। मैक्समूलर, मैकडोनाल्ड, कीथ, पी. थॉमस, लुई सेरेनो आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपनी पुस्तकों में मनुस्मृति को धर्मशास्त्र के साथ-साथ एक विधिग्रन्थ मानते हुए उसके विधानों को सार्वभौम, सार्वजनीन और सर्वकल्याणकारी बताया है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्से ने तो टिप्पणी की है कि मनुस्मृति बाइबिल से उत्तम ग्रन्थ है।

अमेरिका की येल यूनिवर्सिटी के प्रो. रीड लिखते हैं कि बर्मा (म्यांन्मार), थाइलैण्ड, कम्बोड़िया, जावा, इण्डोनेशिया आदि देशों में मनुस्मृति का बड़ा सम्मान है। इन देशों में मनुस्मृति को Natural Law (प्राकृतिक न्याय) का ग्रन्थ मानते हुए अपने शासकों (राजाओं) से यह अपेक्षा की गई है कि वे इसके

अनुसार शासन संचालन एवं आचरण करेंगे। इन देशों के स्थानीय कानूनों में मनुसमृति के नियमों और विधानों को सम्मिलित किया गया है। अपनी पुस्तक 'बाइबिल इन इण्डिया' में लुई जेकोलिऑट कहते हैं कि मनुस्मृति के आधार पर ही मिस्र, पर्शिया, ग्रेसियन और रोमन कानूनी संहिताओं का निर्माण हुआ। विद्वानों का यहाँ तक मानना है कि दुनिया के कानून का नक्शा मनुस्मृति को आधार बनाकर ही बनाया गया था।

महाराज मनु द्वारा रचित मूल मनुस्मृति और प्राचीनकाल में इस पर रचे गये टीका ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। परन्तु अनेक ग्रन्थों में इसके श्लोक उद्धृत हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य की यह एक प्रमाणित ऐतिहासिक सच्चाई है कि उसमें समय-समय पर विभिन्न कारणों से प्रक्षेप होते रहे हैं। कुछ स्वार्थी लोगों ने भी वैदिक परम्पराओं के ग्रन्थों से छेड़छाड़ कर उनमें विकृतियों का प्रक्षेप कर दिया है। चूँकि मनुस्मृति का सीधा सम्बन्ध हमारी दैनन्दिन जीवनचर्या से था और उससे जीवन और समाज सीधा प्रभावित होता था, अतः इसमें परिवर्तन स्वाभाविक था।

ईसा की 9वीं शताब्दी का मेधातिथि का मनुभाष्य सबसे प्राचीन टीका ग्रन्थ माना जाता है जिसमें लगभग 2515 श्लोक थे। यह ग्रन्थ लुप्तप्रायः हो जाने से राजा मदन ने विभिन्न संस्करणों की सहायता से उसे पुनः संकलित कराया। डॉ. गंगानाथ झा ने इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है। भारुचि की मनुस्मृति टीका को डंकन 7वीं शताब्दी की, पैट्रिक ओलिवेल 8वीं शताब्दी की और कुछ विद्वान 11वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। कुल्लूक भट्ट ने 12वीं-13वीं शताब्दी में एक टीका ग्रन्थ लिखा जिसकी 18वीं शताब्दी में कलकत्ता से प्राप्त पाण्डुलिपि को वर्तमान में मनुस्मृति का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद कर सन् 1776 में इसे प्रकाशित कराया, किन्तु इस ग्रंथ में भी विद्वानों ने प्रक्षिप्त श्लोकों की उपस्थिति बताई है। इसके 2685 श्लोकों में से स्वयं विलियम जोन्स ने 2005 श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। अर्थात् इनके अनुसार चीन की दीवार से प्राप्त हस्तलेख में वर्णित 680 श्लोक ही प्रामाणिक माने जाने चाहिए। मेधातिथि के टीका ग्रन्थ की तुलना में कुल्लूक भट्ट के संस्कारण में 170 श्लोक अधिक होने का मत डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने प्रकट किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यहाँ तक कहा है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप उसी भाँति हैं जैसे कोई ग्वाला दूध में पानी की मिलावट करता है। अतः उनकी राय में प्रक्षेपरहित मनुस्मृति को ही प्रामाणिक माना जाना चाहिए। व्लूहर, कीथ, जौली आदि विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त डॉ. राधाकृष्णन, महात्मा गाँधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेपों की बात स्वीकार की है।

वैदिक साहित्य एवं भारतीय आर्षग्रन्थों के प्रकाण्ड विद्वान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने अपने ग्रन्थ 'विशुद्ध मनुस्मृति' में बताया है कि मनुस्मृति में जो श्लोक परस्पर विरोधी विधान वाले हैं, वे श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इसी प्रकार वैदिक व्यवस्था के गुण, कर्म, योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित श्लोक मौलिक हैं और जन्मना जाति विधायक और जन्म के आधार पर पक्षपात का विधान करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं। शूद्र की परिभाषा, शूद्र वर्ण के लोगों के प्रति सद्भाव, क्षूद्रों के धर्मपालन, वर्णपरिवर्तन आदि विधायक श्लोक मौलिक हैं। इसके विपरीत जन्मना शूद्र निर्धारक, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता, उनके अधिकारों के शोषण विधायक श्लोक प्रक्षिप्त हैं। नारियों के सम्मान, स्वतन्त्रता, समानता, शिक्षा सम्बन्धी श्लोक मौलिक हैं, इनके विपरीत महिलाओं को हीन बताने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इसी प्रकार पक्षपातपूर्ण दण्ड व्यवस्था विधायक श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने वेदों से लेकर पुराणों तक प्रायः सभी ग्रन्थों में प्रक्षेप के अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु मनुस्मृति में प्रक्षेपों के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा है। डॉ. सुरेन्द्र कुमार का मानना है कि मनुस्मृति के विरोध में डॉ. अंबेडकर ने जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, वे परस्परपर विरोधी विधान वाले हैं जो प्रक्षिप्त हैं, परन्तु उन्होंने परस्पर विरोध का तथ्य नहीं माना, जो न्याय संगत विश्लेषण नहीं कहा जा सकता।

विद्वानों का मानना है कि प्रक्षिप्त श्लोकों को यदि छोड़ दिया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि मनुस्मृति का मूल विधान न तो दलित विरोधी है और न ही महिला विरोधी। मनुस्मृति में वर्णित वर्ण व्यवस्था गुण, कर्म एवं योग्यता प्रधान है। किसी वर्ण में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति उस वर्ण का नहीं बन जाता है, अपितु उसका वर्ण उसकी अपनी योग्यता, गुण एवं कर्म से निर्धारित होता है। एक ब्राह्मण का पुत्र गुण, कर्म और योग्यता विहीन होने पर शूद्र कहलाएगा, दूसरी ओर शूद्र वर्ण में जन्म लेने वाला बालक अपने गुण-कर्म एवं योग्यता के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ग में सम्मिलित हो सकता है। जन्म के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता का कोई उल्लेख मूल मनुस्मृति में नहीं है। इसी प्रकार मनुस्मृति में दलित शब्द, जाति व्यवस्था या जति वर्गीकरण की कोई बात नहीं है। मनु किसी को दलित नहीं मानते। वे स्त्रियों के सम्मान, स्वतन्त्रता, शिक्षा के अधिकार एवं पुरुषों के बराबर समानता और उनकी समुचित सुरक्षा का विधान देते हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि मनु एवं मनुस्मृति को बिना किसी पूर्वाग्रह के मौलिक रूप में पढ़ा व समझा जाय और प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर इसका विरोध करने की प्रवृत्ति का परित्याग किया जाय। मनु का मानव धर्मशास्त्र एवं मानव समाज का आदि संविधान निन्दा करने योग्य नहीं है। अपनी इस अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण प्राचीनतम धरोहर को निहित स्वार्थप्रेरित राजनीति में घसीट कर उसका तिरस्कार करना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता है।

मनुस्मृति को मानव धर्मशास्त्र की संज्ञा दी गई है। यहाँ धर्म शब्द का आशय आज प्रचलित भ्रामक व्याख्या से नहीं है। मानव का धर्म है, मानवीय कर्त्तव्यों का पालन करना, न कि पंथ-सम्प्रदायों की बेडियों में अपने आपको जकड़ना। इस दृष्टि से मनुष्य के सद्कर्त्तव्य ही मानव धर्म की व्याख्या है। मनुस्मृति अधिकारों के बजाय प्रत्येक मनुष्य के कर्त्तव्यों पर जोर देती है। अधिकार मनुष्यों को बांटने की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं, जबकि कर्त्तव्य समाज को जोड़ने और परस्पर बन्धुता के भाव को बढ़ाने का काम करते हैं।

इति नमस्कारन्ते।

– सत्यनारायण समदानी

कृष्ण काव्य परंपरा में मीराबाई का स्थान

- डॉ. अशोक कुमार

मध्यकालीन काव्य धारा में भगवान कृष्ण का विलक्षण व्यक्तित्व रहा है। भागवत पुराण तथा महाभारत में श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में मानकर उनके विभिन्न क्रियाकलापों जैसे कृष्ण की बाल लीलाओं, प्रणय लीलाओं, माधुर्य भाव से युक्त क्रीड़ाओं के साथ, गीता का उपदेश देने का वर्णन प्रमुख रूप से किया गया है। हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य के प्रवर्तन का श्रेय मैथिली कोकिल विद्यापति को जाता है जिन्होंने गीतगोविंद के रचयिता जयदेव का अनुसरण करते हुए राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं का चित्र अंकित किया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण काव्य को दृढ़तर आयामों पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय अष्टछाप के कवियों को जाता है जिनमें सर्वप्रमुख सूरदास हैं जिन्होंने भागवत पुराण को आधार मानकर कृष्ण की बाललीलाओं का चित्रण करते हुए 'सूरसागर' एवम् 'सूरसारावली' की रचना की। अष्टछाप कवियों के अतिरिक्त राधावल्लभ संप्रदाय, हित हरिवंश, चैतन्य संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय आदि ने कृष्ण भक्ति काव्य की रचना की है। राजस्थान की मरुभूमि में जन्में हिन्दी भक्ति साहित्य में और कृष्ण भक्त कवियों की परंपरा में कवयित्री मीराबाई का नाम भी सम्मान से लिया जाता है। मीराबाई मध्यकाल की अकेली कवयित्री है जिनकी कविताओं में भक्ति और दर्शन के साथ एक नारी की पीड़ा का दर्द भी अभिव्यक्त हुआ है। प्रेम की दीवानी मीरा के पदों में इतनी प्रखर एवं निश्चल अभिव्यक्ति हुई है कि शायद किसी भी कृष्ण भक्त कवियों का काव्य उसकी समता कर सकेगा। ''वह मुख्य रूप से अनुभूतियों की कवयित्री है, कोई दार्शनिक या सांप्रदायिक आग्रह उनकी भाव धारा को नहीं बांध पाता है। चौरासी वैष्णव की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता में आए मीरा संबंधी संदर्भों से संकेत मिलता है कि गिरिधर नागर में अपनी अटूट श्रद्धा के बावजूद उन्होंने पुष्टिमार्ग में दीक्षित होना स्वीकार नहीं किया था। मीरा का काव्य प्रमाण है कि किसी वाद या रूढ़ि चिंतन पद्धति से आक्रांत हुए बिना भी उत्कृष्ट काव्य रचना की जा सकती है। आज की विचारक्रांत हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों के लिए मीरा का काव्य प्रेरक और मार्गदर्शक बन सकता है''[1] मीराबाई ने मध्यकालीन नारी समुदाय की पीड़ा को भी अभिव्यक्त किया है। यदि वह पुरुष होती तो उस पर कुल की मर्यादा, पर्दा प्रथा, साधु संतों के साथ घूमने आदि सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन का आरोप नहीं लगता। मीराबाई नारी थी इसलिए उनके पदों में अंकित लोकलाज, कुल की मर्यादा की रक्षा का दायित्व उन पर था। मीरा जानती थी कि उनके कृष्ण लौकिक नहीं अलौकिक हैं, परमब्रह्म परमेश्वर हैं। परंतु मीरा की पीड़ा और संघर्ष मानवीय है, उन्हें प्रभु कृष्ण की भक्ति से लौकिक जीवन के कष्ट को सहन करने की शक्ति मिलती है। मीरा को अपनी पीड़ा का बोध होते हुए भी कृष्ण के प्रति समर्पण भावना पर आस्था भी है। उन्हें कष्ट, पीड़ा आदि सब सहन करने की शक्ति प्रभु कृष्ण की समर्पण भाव की भक्ति करने से आई है। ''मीराबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छवास का साकार रूप है। उनकी वृत्ति एकांतता और समग्रता प्रेम माधुरी में ही रमी है। अपने आराध्य गिरधर गोपाल की विलक्षण रूप छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति अनेक शब्द धारा बन कर फूट पड़ी है। कृष्ण प्रेम में मतवाली मीरा ने मन ही मन उनके मधुर मिलन के स्वप्न संजोकर आनंद की अनेकविध व्यंजना की है''[2]

काव्यशास्त्र की दृष्टि से मीरा को समझना जटिल है, क्योंकि मीरा की कृष्ण भक्ति प्रेम की पीड़ा की एक अदभुत अनुभूति है। हिंदी साहित्य में कृष्ण भक्त कवियों की एक लंबी परंपरा रही है। लेकिन इन भक्तों में मीराबाई एक मणि और ध्रुवतारा के समान है। मीराबाई जीवन की प्रताड़ना को सहन करती हुई अपनी पीड़ा में विभिन्न नामों से प्रभु का स्मरण करती है। यदि उनकी भक्ति का विश्लेषण करें तो वे सर्वाधिक अपने प्रियतम गिरधर अर्थात् कृष्ण के सौंदर्य पर मुग्ध हैं। मीराबाई के अधिकांश पदों में उसकी विरहानुभूति प्रस्फुटित हुई है। ''इन पदों में गिरिधर नागर के प्रति उनकी अविछिन्न प्रीति, अनन्य अनुराग, एकांतिक निष्ठा, विरह को सहने की क्षमता देखते ही बनती है। पल-पल श्रीकृष्ण मिलन की उत्सुकता, न मिलने पर भांति-भांति की अनुनय विनय करना, विरुद-स्मरण कराना, जनम-जनम का संबंध याद दिलाना, बांह पकड़ कर न छोड़ने की आदिरीति का स्मरण कराना, अपने अवगुण प्रदर्शित करते हुए प्रियतम को गुणागार बताना, वेदना की स्वानुभूति का विषय बताना आदि की अभिव्यक्ति इन पदों में प्रचुरता और प्रखरता से हुई है।''[3] इस प्रकार मीराबाई का चिंतन उनकी वास्तविक अस्मिता को प्रतिष्ठित करता है। यद्यपि भक्तिकाल का प्रत्येक कवि अपने अद्वितीय गुणों से युक्त है, किन्तु उनमें मीराबाई ऐसी कवयित्री है जिनका व्यक्तित्व तत्कालीन समाज में उन्हें एक विशिष्ट पहचान प्रदान करता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध, चारित्रिक दृढ़ता, समर्पण भाव, निर्भीकता, ईमानदारी, सक्रियता आदि गुणों के कारण उनकी विशिष्ट पहचान है, जबकि मध्ययुगीन विशेषकर राजघराने की स्त्री के लिए इस तरह का कदम उठाना जटिल एवं दुष्कर कार्य था। मीरा प्रेम की दीवानी भक्त कवयित्री ही न होकर मध्यकालीन सामंती समाज में फैली अनेक रूढ़िवादी परंपराओं, कुरीतियों एवं प्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाकर प्रगतिशील जीवन मूल्यों की संवाहक बनी। ''हिंदी साहित्य उद्भव और विकास'' पुस्तक में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- ''मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव विह्वलता और आत्म समर्पण का भाव है। इनके माधुर्य ने हिंदी भाषी क्षेत्र के बाहर के भी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्य भाव के अन्यान्य भक्त कवियों की भांति मीरा का प्रेम निवेदन और विरह व्याकुलता अभिमानश्रित और अध्यंत्रित नहीं है, बल्कि सहज और साक्षात् संबंधित है इसलिए इन पदों में जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पंदित और चालित करती है और अपने रंग में रंग डालती हैं''[4]

मीराबाई के गिरधर शब्द में आत्मीयता और विश्वास इस प्रकार भरा हुआ है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके काव्य में प्रेम और भक्ति की तन्मयता हो। उसने अपने और गिरधर के संबंधों को भावना की जिस गहराई की आत्मीयता से स्वीकार किया है उससे प्रतीत होता है कि भावना की तन्मयता के क्षणों में उन्हें गिरधर से मिलने की सुखद अनुभूति होती है। मीरा की दुनिया अपने कष्ट और विषाद के इर्द-गिर्द घूमती है, इसमें सूरदास की ब्रजभूमि की महिमा, बाललीला, गोचारण, मथुरागमन जैसी स्वतंत्रता नहीं है। यहाँ लोकलाज, सगे संबंधियों, राणा के अत्याचार का कठोर अनुशासन है। मीरा ने वृंदावन में गिरधर की तलाश में जीवन गुजार दिया, इसका वर्णन वे सखियों से करती हैं।

''आली म्हाने लागे वृंदावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दर्शन गोविंद जी को।
निर्मल नीर बहत यमुना को, भोजन दूध दही को।

रतन सिंहासन आप बिराजे, मुकुट धरयो तुलसी को।
कुंजन-कुंजन फिरत राधिके सबद सुनत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको''[5]

मीराबाई की आर्त पुकार से प्रतीत होता है कि मीरा का आत्म समर्पण एक विशिष्ट स्थान रखता है। मीरा का एक-एक पद करुणा की गहरी छाप लिए भक्ति रस से ओत-प्रोत हैं। मीरा की वेदना के संदर्भ में कवि अंचल लिखते हैं ''मीरा की वेदना युग-युग से प्रियतम से बिछुड़ी हुई प्रीतिदग्ध प्रणयाकुल आत्मा की वेदना है। वह अपने को आराध्य की जन्म-जन्म की दासी समझती है और सर्वस्व समर्पण, जो प्रेम का प्राण है, उसके गीतों में मन के सम्पूर्ण आवेग के साथ उच्छवासित हुआ है। प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक क्षण उसके सामने प्रिय का रूप मंडराया करता है। इष्टदेव के दर्शन की ऐसी तीव्र लालसा, मिलन की ऐसी परिपूर्ण तृष्णा, कामना की ऐसी अविनाशी आग कम से कम हिन्दी के अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती है।''[7]

इस प्रकार वृंदावन में दूध-दही का भोजन, घर-घर तुलसी की पूजा, कुंज-कुंज में मुरली की धुन मीरा को जीवन की कटुता से अलग स्वच्छंदता देती है। मीराबाई अपने दुःख और कष्ट को दूर करने के लिए प्रभु की शरण में जाती है। क्योंकि उसका जीवन इतना संघर्षमय हो गया था कि उससे उबरने के लिए प्रभु की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं था। वे जीवन की विकट परिस्थितियों में जीने का साहस कृष्ण भक्ति की शक्ति से ही अर्जित करती है। ''उनके भक्ति पदों की सर्वजनमनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के संतों, भक्तों, कवियों तथा रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है। विभिन्न भक्तमालों एवं वार्ताग्रंथों में भी मीरा संबंधी अनेक साक्ष्य प्राप्त हैं।''[6] कुछ विद्वानों ने मीराबाई के जीवन के विषय में लिखा है कि जहाँ तक मीराबाई के वियोगिनी में परिवर्तित होने की बात है तो उसका मूल कारण है कि उनकी बाल्यवस्था अत्यंत दुखों में व्यतीत हुई। बचपन में माता की मृत्यु के पश्चात् उसके दादा ने उसका पालन पोषण किया जो वैष्णव भक्त थे जिनकी भक्ति ने मीरा को बहुत प्रभावित किया। बीस से पच्चीस साल की उम्र तक ही अवधि में ही मीराबाई के जीवन में जो महत्वपूर्ण व्यक्ति थे या जिनके साथ उनका लगाव था वह सब मर गए। उनके जीवन काल में पांच मौतें होने के पश्चात् उन्होंने भौतिक जगत से संबंध तोड़ कर जगत के प्रति वैराग्य अपना लिया और सांसारिक प्रेम को प्रभु कृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया।''

इस प्रकार मीराबाई की कृष्ण भक्ति के संबंध में कोई संदेह नहीं है कि गिरिधर गोपाल के प्रति उसकी प्रीत पुरानी है, उसमें आत्मसमर्पण की भावना उतनी ही उत्कट और प्रगाढ़ है। मीरा की इस तीव्र आत्मसमर्पण की भावना के संबंध में रामेश्वर प्रसाद शुक्ल कहते हैं ''सर्वस्व समर्पण, जो प्रेम का प्राण है, उनके गीत-गीत में, मन के संपूर्ण आवेग के साथ उच्छवसित हुआ है। प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक क्षण उसके सामने प्रिय का रूप मंडराया करता है। इष्टदेव के दर्शन की ऐसी तीव्र लालसा, मिलन की ऐसी परिपूर्ण तृष्णा, कामना की ऐसी अविनाशी आग कम से कम हिंदी के अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती है। भारतीय नारीत्व तो अपने सारे भावनात्मक वेग और रोम प्रतिरोम में कसकती प्यास को लेकर खंडित आत्मा के एकनिष्ठ तन्मय जीवन निवेदन को लेकर इस प्रेम पुजारी की प्रीति-कड़ियों में मुक्त हुआ है।''[8]

मीरा एक ऐसी क्रांतिकारी स्त्री थी जिसने अभिजात्य की परंपरा तोड़कर साधु-संतों के बीच बैठकर प्रभु गिरिधर गोपाल की भक्ति में सत्संग शुरू कर दिया था। राणा विक्रमादित्य के अत्याचार के बावजूद प्रभु कृष्ण की कृपा से मीरा गुजरात, राजस्थान से लेकर समस्त उत्तर भारत के साहित्य में आज भी अमर है।'' ''राठौडां री धेयड़ी जी सीसोदा र साथ'' तथा ''सिसोद्यो रूठयो तो म्हारो काई कर लेसी'' कहने का साहस उसने परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा प्राप्त कर लिया था। वह अपनी 'पुरवली प्रीत' की रक्षा के लिए ''लोकलाज कुल की मरजाद या मैं एक न राखूंगी'' का दावा करती थी और चुनौती देती थी कि उसके वैधव्य पर कोई अंगुली मत उठाना क्योंकि ''जाके सिर मोर मुकुट, मेरे पति सोई।''[9] इस प्रकार सार रूप में कहा जा सकता है कि हिंदी कृष्ण काव्य परंपरा में अनेक संत एवं कृष्ण भक्त कवि हुए हैं, पर श्रीकृष्ण को अपना पति मीराबाई ने ही कहा है। यद्यपि श्रीकृष्ण को अपना पति कहने के कारण उन्हें बावरी तक कहा गया है। हरिदासी व सखी संप्रदाय के भक्त कवि पुरुष होते हुए भी श्रीकृष्ण को पुरुष मानते और अन्य भक्तों को स्त्री कहते थे, लेकिन मीराबाई स्त्री थीं, इसलिए कृष्ण को पति कहने में जो वास्तविकता मीरा में है वह किसी कृष्ण भक्त कवि में नहीं है। इस कारण कृष्ण भक्ति शाखा की काव्य परंपरा में मीराबाई का विशिष्ट स्थान है।

संदर्भ ग्रंथों की सूची :-

1. डॉ राजेंद्र सोनवाने, हिंदी की विविध विधाओं का नवीन दृष्टिकोण, मीरा के काव्य में नारी मुक्ति की अवधारणा, विकास प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ 11
2. विजयेन्द्र स्नातक, हिंदी साहित्य का इतिहास, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 118
3. ब्रजेंद्र कुमार सिंहल, मीराबाई, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ 77
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 112
5. डॉक्टर राजपाल नागपाल, मीराबाई की पदावली, अनीता प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 98
6. डॉ0 नगेंद्र, डॉक्टर हरदयाल (संपादक), हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृष्ठ 220
7. डॉ0 रामप्रसाद त्रिपाठी, मीरा स्मृति ग्रन्थ, साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद, पृष्ठ 124
8. डॉक्टर राजपाल नागपाल, मीराबाई की पदावली, अनीता प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 26
9. डॉ0 मनमोहन सहगल, हिंदी साहित्य का भक्तिकालीन काव्य, हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकूला, पृष्ठ 195

- सह आचार्य, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला-176215
मोबाइल नम्बर - 8894535331

लेखकों से निवेदन

मीरायन त्रैमासिक शोधपत्रिका के लिए अपना आलेख भेजते समय कृपया निम्न बातों का धान रखें :

- कृतिदेव–10 फोन्ट में कम से कम फोन्ट साइज 14 में अपना आलेख डबल स्पेस में टाइप कराकर आलेख की Word & PDF दोनों फाइल हमारी E-mail samdanisatya@gmail.com पर भेजें।
- आलेख में लेखक अपना पूरा नाम व पता तथा मोबाइल नम्बर अवश्य अंकित करें।
- टाइप के पश्चात् अपने स्तर पर आलेख चेक कर लें ताकि तथ्यात्मक गलती न रहे।
- आलेख में यदि फोटो/चार्ट आदि हों तो उन्हें यथास्थान केप्शन के साथ ही देवें।
- टाइप कराते वक्त पृष्ठ के दोनों ओर पर्याप्त मार्जिन छोड़ें।

सम्पादक मीरायन

मीराबाई की ऐतिहासिक छवियाँ : भक्तमाल और ख्यात साहित्य

- डॉ. प्रेमसिंह

औपनिवेशिक काल में जिस तरह भक्ति पर अध्ययन शुरू हुआ, इतिहास ग्रंथों की निर्मिति हुई, संतों और भक्तों की वाणियों के आलोचनात्मक पाठ तैयार हुए, उस दौर में मीरा की जो छवि समाज में उभरी वह बहुत लोकप्रिय हुई जो आज भी हमारे मानस पटल पर अंकित है। यह जरूरी नहीं है कि यही छवि मध्यकालीन भक्तिकाल एवं रीतिकाल में भी उपस्थित रही हो। इसलिए इस लेख में हम मध्यकाल में मीरा की जो छवियाँ भक्तमालों और अन्य साहित्यिक एवं इतिहास ग्रंथों में उभरी जिसका लोक से अन्योन्याश्रित संबंध था, उसका अध्ययन करेंगे।

मीरा का जीवन सोलहवीं सदीं का पूर्वार्द्ध है। सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में मीरा पर न तो कोई ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है, और ना ही उनकी वाणियों का संकलन ही प्राप्त होता है। मीरा का पहला उल्लेख ओरछा के हरिराम व्यास करते हैं-

सारंग रागे

विहारिहि स्वामी बिनु को गावै
विनु हरिवंशहि राधावल्लभ को रस रीति सुनावै
रूप सनातन बिनु को वृंदा विपिनि माधुरी पावै
कृष्नदास बिनु गिरधर जू कों को अब लाड़ लड़ावै
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जानि उर लावै
स्वारथ परमारथ जैमल बिनु को सब बंधु कहावै
परमानंददास बिनु को अब लीला गाइ सुनावै
सूरदास बिनु पद रचना कौं कौन कविहि कहि आवै
और सकल साधुनि बिनु को अब यह कलिकाल कटावै
व्यासदास इन बिनु को अब तन की तपति बुझावै[1]

सोलहवीं सदी के मध्य में हरिराम व्यास मीराबाई को जिस ढंग से याद करते हैं उससे यह अर्थ निकलता है कि मीराबाई उस समय जीवित नहीं थी। तब से मीराबाई की अनेक छवियाँ अलग-अलग समाज व अलग-अलग समय और इतिहास में उभर कर निर्मित होती हैं।

मीरा की कविता की पाण्डुलिपियों और पदों के विकास पर लोक में बनी उनकी छवि का गहरा प्रभाव रहा है। लोक और लिखित साहित्यिक परंपरा का मीरा के संदर्भ में जो अन्तर्सम्बंध है उसको अलगाना लगभग नामुमकिन या गैर जरूरी है। अगर मीराबाई के जीवन के बारे में शुरुआती उल्लेख को लिखित साहित्यिक परंपरा में देखें तो वह है नाभादास का भक्तमाल, जो 1600 ई. के आसपास लिखा गया था। उसमें मीराबाई की वे कथाएँ, मीराबाई के जीवन के बारे में वे संदर्भ मौजूद हैं जो लोक से ही लिए गए हैं। क्योंकि मीराबाई की वही छवि वर्षों तक लोक में बसी रही। उसमें मीराबाई की निडर भक्ति के संबंध में जो बातें लिखित हैं, मीराबाई उसी रूप में प्रसिद्ध थीं। भक्तमाल में नाभादास कहते हैं -

छप्पय- लोक लाज कुल-शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी।।

सदृश्य गोपिका प्रेम प्रगट, कलिजुगहिं दिखायौ।
निरअंकुश अति निडर, रसिक जस रसना गायौ।।
दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यिम कीयौ।
बार न बाँकौ भयौ, गरल अमृत ज्यों पीयौ।।
भक्ति निसान बजाय कै, काहू ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल-शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी।।[2]

लोकलाज और कुल की शृंखला को तजने की जो बात मीरा की भक्ति के संदर्भ में कही गई है उनकी यह छवि तत्कालीन लोक द्वारा ही निर्मित है जो आज भी लोक में बसी हुई है। नाभादास आगे लिखते हैं- दुष्टनि दोष विचारि, मृत्यु को उद्यिम कीयौ। बार न बाँकौ भयौ, गरल अमृत ज्यों पीयौ।। मीराबाई की छवि जो इस छप्पय से उभरती है वह लोकलाज और सामाजिक वर्जनाओं के विरोध के रूप में उपस्थित होती है जिसमें मीरा की भक्ति से सहमत न होकर उनकी मृत्यु का उद्यम करना आदि बातें नाभादास के समय में प्रसिद्ध हो गई थी। इसलिए नाभादास ने उन्हीं जनश्रुतियों को इकट्ठा करके यह छप्पय लिखा होगा। कालान्तर में मीरा की जो विद्रोही छवि बनती है उसका उत्स भी नाभादास के इसी छप्पय में हमें मिलता है। इसलिए मीरा की भक्ति में निडरता और विद्रोह शुरू से ही रहा है जिसका प्रमाण नाभादास का उपर्युक्त छप्पय है।

नाभादास की तर्ज पर जो दूसरा प्रसिद्ध भक्तमाल रचा गया वह है राघवदास कृत भक्तमाल। राघवदास दादू की शिष्य परंपरा में आते हैं। राघवदास ने नाभादास के भक्तमाल के बाद में जो जनश्रुतियाँ विकसित हुई उनको संगृहीत करके एक विशाल भक्तमाल की रचना की। देखा जाए तो राघवदास कृत मीरा का उल्लेख बहुत कुछ नाभादास के उल्लेख से मेल खाता है। लेकिन उसमें कुछ नई बातें भी आ गई थीं जो समयान्तर की वजह से मीरा की जो छवि लोक में विकसित हो रही थी उनका बयान करती है-

छपै : लोक बेद कुल जगत सुख, मुचि मीरां श्री हरि भजे।।
गोपिन की सी प्रीति, रीति कलि-कालि दिखाई।
रसिकराइ जस गाइ, निडर रही संत समाई।
रांनैं रोस उपाइ, जहर कौ प्यालौ दीन्हौं।
रोम खुस्यौ नहिं येक, मांनि चरनांमृत लीन्हौं।
नौबत भक्ति घुराई कैं, पति सो गिरधर ही सजे।
लोक बेद कुल जगत सुख, मुचि मीरां श्री हरि भजे।।

मनहर छंद : रांमजी की भक्ति न भावै काहू दुष्टन कौं,
मीरां भई वैसनव झैर दीन्हों जांनि कैं।
राणों कहै मारे लाज, मारि डारौ याहि आज,
आप करै कीरतन संत बैठें आंनि कैं।
प्रेम मधि पीयो बिस पद गाये अहनिस,
भै न व्याप्यौ नैंकहुन लीन्हौं दुख मांनि कैं।
राघो कहै रांनौं मुखि बेरी सर्व राजलोक,
मीरांबाई मगन, भरोसै चक्रपांनि कै।।[3]

इसमें एक बात नई आती है जो नाभादास के भक्तमाल में नहीं है, वह है राणा शब्द का उल्लेख। जिससे मीरा का मेवाड़ से संबंध जाहिर होता है, क्योंकि राणा की उपाधि केवल मेवाड़ के राजा ही धारण करते थे। तो यहाँ यह स्पष्ट होता है कि मीरा की भक्ति से असहमत होने वाला और उन्हें पीड़ा देने वाला मेवाड़ राजवंश ही था जिसका उल्लेख राघवदास करते हैं, जो नाभादास से अलग है। यह छवि सत्रहवीं सदी के अंत में उभरी थी।

राघवदास के भक्तमाल का मीरा संबंधी उल्लेख मेल खाता है मुंहता नैणसी की ख्यात से जहाँ भाग एक में जब नैणसी मेवाड़ राजवंश का उल्लेख करते हैं तब कहते हैं कि मीरा का विवाह मेवाड़ राजवंश में हुआ था और उनके पति का नाम भोजराज था। नैणसी लिखते हैं कि- ''भोजराज सांगावत। ईणनु, कहे छै मीरांबाई राठोड़ परणाई हुती।''[4] राघवदास का भक्तमाल और नैणसी की ख्यात दोनों सत्रहवीं सदी में लिखे गए तथा दोनों में ही मीरा का संबंध मेवाड़ से होना मेल खाता है। जहाँ राघवदास के भक्तमाल में यह बातें स्पष्ट नहीं होती कि मीरा को दुःख देने वाले उनके पति थे, ससुर थे या देवर थे अथवा मीरा विधवा हो गई थी, वहीं नैणसी के उल्लेख में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मीरा भोजराज की विधवा थी, क्योंकि नैणसी अपनी ख्यात में भोजराज का उल्लेख आगे नहीं करते हैं। अतः ऐसा माना जाता है कि भोजराज की मृत्यु हो चुकी थी। सत्रहवीं सदी तक मीरा की उपर्युक्त छवियाँ जनश्रुतियों में थी, नैणसी जिसके गवाह हैं।

सत्रहवीं सदी की इन छवियों के बाद अठारहवीं सदी में मीरा का एक विशाल चरित्र रचा जाता है और कुछ नई बातें उभर कर सामने आती हैं। अठारहवीं सदी में प्रियादास ने नाभादास कृत भक्तमाल पर अपनी भक्तिरसबोधिनी टीका लिखी है जिसमें मीरा की वृहत्तर छवि उभर कर सामने आती है। प्रियादास दस कवित्तों में मीरा के जन्म, माता-पिता, लालन -पालन, विवाह, गिरधरजी की पूजा, सासु द्वारा देवी पूजा का आग्रह जिसे मीरा द्वारा कृष्ण भक्ति में लीन होने के कारण नकारना, पति की मृत्यु, पाँवों में घुँघरू बांध कर नाचना, साधु संतों की सेवा करना, राणा द्वारा विष देना, श्री गिरधर जी का मीरा के साथ चौपड़ खेलना, एक कुटिल विषयी व्यक्ति की कहानी, अकबर का तानसेन के साथ मीरा के दर्शन को आना, तानसेन द्वारा मीरा की प्रशंसा में एक पद बनाना, वृंदावन में जीव गोसाईं जी से मिलने जाने की कहानी, मीरा का चित्तौड़ को त्याग कर द्वारिका में रहने आना, राणा द्वारा मीरा को वापस चित्तौड़ बुलाना, मीरा का श्री रणछोड़ जी की मूर्ति में सदेह समा जाना आदि छवियाँ जो प्रियादास के समय तक समाज में निर्मित होती हैं, उन सब का विस्तृत विवेचन वे अपनी टीका में करते हैं-

कवित्त : ''मेरतौ'' जनमभूमि, झूमि हित नैन लगे,
पगे गिरिधारीलाल, पिता ही के धाम में।
राना कै सगाई भई, करी ब्याह सामानई,
गई मति बूडि वा रँगीले घनश्याम में।
भाँवरै फिरत, मन साँवरे सरूप माँझ,
ताँवरैं सी आवै चलिबे कूँ पति ग्राम मैं।
पूछें पितु मात ''पट आभरन लीजियै जू''
लोचन भरत नीर कहा काम दाम में।।

कवित्त : ''देवौ गिरिधारीलाल, जो निहाल कियौ चाहो,
और धन माल सब राखियै उठाय कै।''

बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़्यो भारी,
रोय मिली महतारी, कही ''लीजियै-लड़ाय कै''।।
डोला पधराय, दृग दृग सों लगाय चलीं,
सुख न समाय चाय, प्राणपति पाय कै।
पहुँचीं भवन सासु देवी पै गवन कियौ
तिया अरु बर गठजोरौ करयौ भाय के।।

कवित्त : देवी के पुजायबे कूँ, कियौ लै उपाय सास,
बर पै, पुजाइ, पुन वधू पूजि भाखियै।
बोली ''जू बिकायौ माथौ लाल गिरिधारी हाथ,
और कौ न नवै, एक वही अभिलाखिये''।
''बढ़त सुहाग वाके पूजै ताते पूजा करौ,
करौ मत हठ सीस पायनि पै राखियै''।
कही बार बार ''तुम यही निरधार जानौ,
वही सुकुमार जापै वारि फेरि नाखियै''।।

कवित्त : तब तौ खिसानी भई, अति जर बर गई,
गई पति पास ''यह बधु नहीं काम की।
अब ही जवाब दियौ, कियौ अपमान मेरो,
आगे क्यूँ प्रमान करै?'' भरै स्वास चाम की।।
राना सुनि कोप कर्‌यौ, धर्‌यौ हिये मारिबोई,
दई ठौर न्यारी, देखि रीझी मति वाम की।।
लालनि लड़ावै गुन गाय के मल्हावै,
साधु संग ही सुहावै, जिन्हैं लगी चाह स्याम की।।

कवित्त : आय कै नणद कहै ''गहै किन चेत भाभी?
साधुनि सों हेत मैं कलंक लागै भारिये।
रानो देसपती लाजै, बाप कुल रीत जात,
मानि लीजै बात बेगि संग निरवारियै''।
''लागे प्राण साथ संत, पावत अनंत सुख,
जाकूँ दुख होय, ताको नीके करि टारियै।
सुनिकै, कटोरा भरि गरल पठाय दियौ,
लियौ करि पान रंग चढचौ यौ निहारियै।।

कवित्त : गरल पठायौ, सो तौ सीस लै चढ़ायौ, संग
त्याग विष भारी, ताकी झारनि सँभारी है।
राना नै लगायौ चर, बैठे साधु ढिग ढरि,
तब ही खबर करि, मारौ यहै धारी है।।
राजैं गिरिधारीलाल, तिनहीं सों रंग जाल,

बोलत हँसत ख्याल, कान परी प्यारी है।
जाय कै सुनाई, भई अति चपलाई, आयौ
लियै तरवार दै किवार, खोलि न्यारी है।

कवित्त : ''जाके संग रंगभीजि, करत प्रसंग नाना,
कहाँ वह नर गयौ, बेगि दै बताइयै''।
''आगे ही बिराजै, कछू तोसों नहीं लाजै, प्रभू
देखि सुख साजै, आँखें खोलि दरसाइयै''।।
भयौ ही खिसानौ रानौ, लिख्यौ चित्र भीत मानो,
उलटि पयानौ कियौ, नेकु मन आइयै।
देख्यौहु प्रभाव ऐपै भाव में न भिद्यौ जाइ,
बिना हरिकृपा कहौ कैसे करि पाइयै।।

कवित्त : बिषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ,
कियौ यों प्रसंग ''मौसों अंग संग कीजियै।
आज्ञा मोंको दई आप लाल गिरिधारी,'' ''अहो
सीस धरि लई, करि भोजन हूँ लीजिये''।।
संतनि समाज में बिछाय सेज बोलि लियौ,
''संक अब कौन की निसंक रस भीजिये ।
सेत मुख भयो, बिषैभाव सब गयौ, नयौ
पाँयनि में आय, ''मोकूँ भक्तिदान दीजियै''।।

कवित्त : रूप की निकाई भूप ''अकबर'' भाइ हिये
लिये संग तानसेन देखिबेकूँ आयो है।
निरखि निहाल भयो, छबि गिरिधारीलाल,
पद सुख जाल एक, तब ही चढ़ायो है।।
वृन्दाबन आई, जीवगुसाँई जू सों मिलि झिलीं,
तिया मुख देखिबे को पन्न लै छुटायो है।
देखी कुंज कुंज लाल प्यारी सुख पूज भारी
धरी उर माँझ, आय देस, वन गायो है।।

कवित्त : राना की मलीन मति, देखि, बसी द्वारावति,
रति गिरिधारीलाल, नित ही लड़ाइये।
लागी चटपटी भूप भक्ति को सरूप जानि,
अति दुख मानि, बिप्र श्रेनी लै पठाइयै।।
बेगि लैकै आवो मोकूँ प्रान दे जिवावौ अहो
गये द्वार धरनौ दै विनती सुनाइयै।
सुनि बिदा होन गई राय रणछोड़ जू पै
छाड़ौं राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै।।[5]

इस तरह प्रियादास के समय तक मीरा की अनेक छवियाँ विकसित हो गई थीं जिसका उल्लेख वे अपनी टीका में करते हैं। इसके बाद विकसित होने वाली छवियाँ प्रियादास की टीका से ही दृढ़ता पाती हैं।

अठारहवीं सदीं में ही मीरा का चरित्र किशनगढ़ के राजा नागरीदास (सावंतसिंह) भी लिखते हैं, जिसमें मीरा की छवि सती होने के खिलाफ होने की उभरती है। अतः इतना तय है कि मीरा विधवा हो गई थी और उन्होंने सती होने से इन्कार कर दिया था। ''राणा सांगा के बड़े भाई पृथ्वीराज के निधन पर 16 स्त्रियाँ सती हुई थीं। मीरां से भी सती होने का आग्रह किया गया प्रतीत होता है। मीरां की कविता के अन्तःसाक्ष्य और धार्मिक-साम्प्रदायिक आख्यान इसकी पुष्टि करते हैं। मीरां की कविता में एक जगह उल्लेख है कि- ''भजन करस्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घणनामी।'' यह उल्लेख नागरीदास की पद प्रसंगमाला में भी आता है। नागरीदास का यह उल्लेख इस प्रकार हैः- यह जग प्रसिद्ध ही। सो कितनेक दिन उपरांत काहू समै राना के वा भाई को देहांत भयो, अरु राना हुते सौं मीरांबाई सों दुख पाय रहे ही हे, ये वैष्णवनि को सतसंग करिते यातें। वा समै राना नैं कहाई, जौ यह औसर है, तुम भरता के संग सती होहु। तब मीरांबाई भगवत रंग आगै लगे है, त्योही लगे रहे। या समै कछु भेद मानी नहीं, अरु या बात के उत्तर कौं एक विष्णु पद नयो बनाय राना कौं लिखि पठायौ। पद बहुत प्रसिद्ध भयौ सो वह यह पद।

मीरां के रंग लग्यो हरी कौ, और रंग सब अटक परी
गिरधर गास्यां, सती न होस्यां, मन मोह्यो धन नामी
जेठ बहू को नातो नहीं राणा जी, हूँ सेवग थें स्वामी
चूड़ो दोबड़ो तिलक जु माला, सील बर्त सिंगार
और सिंगार भावैं नहीं राणा जी, यौं गुर ग्यान हमार
कोई निंदों कोई बिंदो, गुण गोबिन्द रा गास्यां
जिण मारग वै सन्त पहुँता, तिण मारग म्हें जास्यां
चोरी करां न जीव सतावां, कांई करसी म्हारो कोई
हसती चढ़ि गधे न चढ़ां, या तो बात न होई
राज करंता नरक पडेसी, भोगीडा जम के लीया
भगत करंता मुक्त पहुंता, जोग करंता जीया
गिरधर धणी, कटूंबो गिरधर, मात पिता सुत भाई
थें थारे म्हे म्हारे हो राणा जी, यौं कहे मीरांबाई ।।

मीरां के सती न होने को लेकर नाराजगी और निन्दा का भाव तब और बढ़ गया होगा, जब उसके सामने उसके देवर रत्नसिंह की मृत्यु पर उसकी चार में से तीन पत्नियाँ - रेणुकुंवर, सांखला रत्नाकुंवर और हाड़ा कंवराबाई सती हुई।''[6]

लेकिन 18वीं सदी में जब ब्रह्मदास का भक्तमाल आता है तो उसमें मीराबाई को राठौड़ राजपूत समुदाय के सम्मान की प्रतीक माना जाता है। ''इस भक्तमाल में चारण ब्रह्मदास उत्तर भारत के वृहत्तर भक्तों-संतों के अलावा राजस्थान के अल्पख्यात भक्तों का भी वर्णन करते हैं। वे मीराँ को अधिक आदर के साथ स्मरण करते हैं और उनको मरुधरा के अधिपतियों यानी राजपूत कुलों का विशेषकर राठौड़ कुल का सम्मान बताते हैं।''[7]

मेड़त्यां कुल मुरधरा मझ, अधपत्यां आधार।
मगन मूरत मांहि निरतन, लई मीरा लार।
तौ रिझवार जी रिझवार, भगत गावता रिझवार।[8]

निष्कर्ष – मीरा की उपर्युक्त छवियाँ जो 16वीं, 17वीं तथा 18वीं सदीं में बनी रही उनमें 19वीं सदीं के औपनिवेशिक युग या आधुनिक काल में आकर मीरा का विधवा होना और उनके देवर द्वारा उन्हें दुःख देना आदि छवियाँ प्रमुख हो गई थी। जबकि 16वीं सदीं में नाभादास के भक्तमाल में यह छवियाँ स्पष्ट नहीं थी, 17वीं सदीं में भी उपर्युक्त छवि स्पष्ट नहीं थी। 18 वीं सदी में विधवा होना प्रमुखता पाता है और 19वीं सदीं में वह और अधिक ठोस हो जाता है और यही चरित्र बाद में प्रसिद्ध होता है। अतः जैसा कि इस लेख में देखते हैं कि मीरा की छवि प्राकारांतर से निरंतर उभरती और बदलती गई। जहाँ तक भक्तमालों में मीरा की छवि की बात है तो वह लोक से बहुत गहरी जुड़ी हुई है, लेकिन जब हम मीरा का इस दृष्टि से इतिहास में अध्ययन करते हैं तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन स्रोतों में मीराबाई की छवियाँ संगृहीत हुई हैं वे मोटे तौर पर एक मत होते हुए भी कुछ भिन्नता रखते हैं। आधुनिक काल तक आते-आते मीरा की छवि पूर्ण रूप से स्थापित और प्रसिद्ध हो गई जिसे आज हम उसी रूप में देखते हैं।

संदर्भ-

1. Hagiographic Poems br and about Hariram Vyas&Heidi R- M- Pauwels, Egbert Frosten, Grogningen oriental studies, Brill, 2002, P- 84,85
2. श्रीभक्तमाल - नाभादास, श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका - कवित्त, श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला विरचित भक्तिसुधास्वाद तिलक, प्रकाशक - तेजकुमार बुक डिपो (प्रा.) लिमिटेड, लखनऊ, उत्तराधिकारी - नवलकिशोर - बुक डिपो, लखनऊ, नौवां संस्करण, सन- 2005 ई., पृ. सं. 712-713
3. भक्तमाल- राघवदास, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर-1965 ई., पृ. सं. 99
4. मुंहता नैणसी री ख्यात भाग -1, संपादक - बदरीप्रसाद साकरिया, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1960 ई., पृ. सं. 21
5. श्रीभक्तमाल - नाभादास, श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका - कवित्त, श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला विरचित भक्तिसुधास्वाद तिलक, प्रकाशक - तेजकुमार बुक डिपो (प्रा.) लिमिटेड, लखनऊ, उत्तराधिकारी- नवलकिशोर-बुक डिपो, लखनऊ, नौवां संस्करण, सन- 2005 ई., पृ. सं. 714-722
6. पचरंग चोला पहर सखी री, मीरा का जीवन और समाज - माधव हाड़ा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015 ई, पृ. सं. 31
7. मीराँबाईः लोक स्मृति, इतिहास और छवि निर्माण (आलेख) - दलपत सिंह राजपुरोहित, आलोचना त्रैमासिक, अंक - 74 जुलाई-सितम्बर 2023, सम्पादक, आशुतोष कुमार, संजीव, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली। पृ. सं. 51
8. भगतमाल - चारण ब्रह्मदास, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर 1959 ई., पृ. सं. 45

- असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
III/F- 4, सेक्टर-3
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय स्टाफ कॉलोनी
रेजीडेन्सी रोड, जोधपुर-342011
dpsrajpurohit@gmail-com, 9414883546

सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि विभूतियाँ उस समय के युगप्रवाह की उपज नहीं थी वरन् उनका निर्माण उन प्राचीनतम भारतीय परिवर्द्धनशील दार्शनिक परम्पराओं की सुदृढ़ भित्ति पर हुआ था जो न कभी बंधी थी उत्तर, दक्षिण, पूरब या पश्चिम की भौगोलिक परिधि में और न कभी म्लान या पल्लवित हुई थी किसी राजसत्ता विशेष के बनने या बिगड़ने से। उनका संदेश किसी जाति, समुदाय के लिए नहीं बल्कि देश-देशान्तर व्यापी मानव-कल्याण के लिए था।

आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल

संत नागरीदास की काव्य चेतना

- डॉ. सुरेश सिंह राठौड़

कृष्णगढ़ (किशनगढ़) राजघराने के महाराजा नागरीदास (सावंतसिंह) काव्य कला में निपुण थे। वे कवि के साथ-साथ संगीतज्ञ, चित्रकार, सफल शासक तथा प्रकाण्ड पण्डित भी थे। उनका साहित्य भक्ति-प्रधान है परन्तु समसामयिक विषयों के प्रतिपादन हेतु उन्होंने नीति एवं राजनीति सम्बन्धी पदों की रचना भी की है। भक्ति के मूल में राधा-कृष्ण की युगल उपासना है। ''नागरीदास पुष्टिमार्ग को प्रमुखतः मान्य समझते थे। पुष्टिमार्गी गोस्वामी श्रीरणछोड़लाल जी से उन्होंने दीक्षा ली थी।''[1] निम्बार्क संप्रदाय से भी उनका निकटस्थ सम्बन्ध था। जीवन के उत्तरार्द्ध में इन्होंने सांसारिक भौतिकता का त्याग कर अनंत अलौकिक रस-रत्नाकर श्रीकृष्ण व राधा की युगल उपासना के लीलागान में ही अपना जीवन लगा दिया।

संत नागरीदास के ग्रंथों की संख्या को लेकर आलोचकों में मतैक्य नहीं है। उनके समस्त ग्रंथों का संग्रह 'नागर समुच्चय' के नाम से विक्रम संवत् 1955 में 'ज्ञानसागर मंत्रालय' मुंबई से प्रकाशित हुआ है जिसमें नागरीदास प्रणीत ग्रंथों की संख्या 69 मानी गई है जबकि कृष्णगढ के दरबारी जयलाल तथा बाबू राधाकृष्णदास ने नागरीदास प्रणीत ग्रंथों की संख्या 75 मानी है। कुछ आलोचक इनके ग्रंथों की संख्या 73 मानते हैं।

आलोचकों ने इनका रचनाकाल संवत् 1780 से 1819 तक निर्धारित किया है। 'मनोरथ मंजरी' इनका पहला ग्रन्थ माना जाता है, जिसका रचनाकाल संवत् 1780 है। संत नागरीदास के साहित्य पर वृन्द, रसखान तथा घनानन्द आदि कवियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। नागरीदास ने अपने समकालिक कवियों की तरह ही राधा-कृष्ण की छवि, युगल-उपासना, झांकियाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि का चित्रण किया है। इनका काव्य अन्य कृष्ण भक्त कवियों से भले ही विषयवस्तु की दृष्टि से साम्य रखता हो परन्तु प्रस्तुतीकरण एवं शैलीगत भिन्नता, नवीनता और विशिष्टता लिये हुए है। क्योंकि इनके काव्य में संगीतात्मकता व चित्रात्मकता का अत्यंत मनोहर और सुन्दर समावेश है, जो सहृदय के समक्ष विशिष्ट भाव व्यंजना प्रकट करता हैं।

संत नागरीदास प्रणीत ग्रन्थों में विषय वैविध्य है। अतः विषयवस्तु के आधार पर इनके सम्पूर्ण काव्य संसार को किसी एक ही वर्ग में नहीं रखा जा सकता। 'नागर समुच्चय' में इनके सम्पूर्ण ग्रंथों को (अ) वैराग्य सागर, (ब) शृंगार सागर, तथा (स) पद सागर नामक वर्गीकरण ग्रंथों में प्रतिपादित विषयवस्तु को आधार मानकर किया गया प्रतीत होता है। 'वैराग्य सागर' में नागरीदास के 15 ग्रंथों को सम्मिलित किया गया है। इन सभी ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय भक्ति-भावना से सम्बन्धित है। दूसरे वर्ग 'शृंगार सागर' में इनके 51 ग्रंथों का विवरण है। इस श्रेणी में शृंगारिक पदों या लीलाओं को स्थान दिया गया है। इसमें राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा आकर्षण के पद संग्रहीत हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की भक्ति, उनकी युगल उपासना को आलोकित करने का प्रयास किया गया है। 'पद सागर' में केवल तीन ग्रंथ संग्रहीत हैं।

सुविधा की दृष्टि से नागरीदास के साहित्य को प्रमुखता से तीन भागों में बाँटा जा सकता है- (अ) भक्तिपरक साहित्य, (ब) नीतिपरक साहित्य (स) राजनीतिपरक साहित्य।

भक्तिपरक साहित्य

संत नागरीदास ने सगुण भक्ति की मधुर व सौन्दर्यात्मक छवि प्रकट कर सामान्य लोगों के भक्ति शून्य हृदयों में भक्ति का बीज डाला। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बावजूद इनके भक्ति ग्रंथों में युगल लीला का स्थान सर्वोपरि है।

वि.सं.1802 में विरचित 'भक्ति मग दीपिका' में भक्ति भावना के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ संसार की असारता, मोह-माया के परित्याग, आसक्ति एवं पारिवारिक कलह आदि की अभिव्यक्ति की गयी है। इनमें मानव संवेदना, अनन्य भाव की शरणागति, गुरु का महत्व तथा नवधा भक्ति पर बल दिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'बन जन प्रशंसा' में गुरु के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है-

''धन धन श्री गुरुदेव गुसाईं।
वृंदावन रस मग दरसायो, ऊबट बाट छुटाईं।''[2]

भक्तियुगीन समग्र साहित्य में गुरु के महत्त्व को रेखांकित किया गया है। इस काल के कवियों के अनुसार भक्त को ईश्वर की महत्ता तथा उसकी ज्ञान चेतना के बारे में बताने वाला गुरु ही है। गुरु ही सन्मार्ग का प्रशस्तकर्ता है, उचित-अनुचित का भेद बताने वाला गुरु ही है। इसलिए इस काल के साहित्य में गुरु को विशेष महत्त्व दिया गया है। कबीर ने तो गुरु को ईश्वर से भी बड़ा बताया है। नागरीदास ने प्रेम भक्ति को स्पष्ट करते हुए नवधा भक्ति को महत्व दिया है।

''कलि के जनम विगारत लोग
मूरख महा दोउ वे खोवत, हरि की भक्ति, विषय सुख भोग
कलह कलेस करत दिन चितवत, विविधि विपति आस्वादी
ऐसै ही सब आयु बितावत, टेब तजत नहिं बादी
दासी, दास, कुटुंब, मित्र, सब, याही दुख रस पगे
'नागर' नाहिं कोउ समुझावत, सब स्वारथ के सगे।।''[3]

रचनाकार ने उक्त पद के माध्यम से स्पष्ट रूप से भक्ति की महत्ता को प्रकट किया है और कहा है कि ईश्वर प्राप्ति का मार्ग श्रेष्ठ है, भक्ति मार्ग का अनुसरण कर साधक (भक्त) अपने आराध्य (ईश्वर) को प्राप्त कर सकता है। ध्यातव्य है कि मनुष्य के जीवन का अंतिम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति है, जो ईश भक्ति से ही संभव है। इसलिए ईश्वर की भक्ति को श्रेय भी माना गया है।

'देहदशा' नामक ग्रन्थ में भी इन्होंने गुरु के महत्त्व को रेखांकित किया है। समीक्षकों का मानना है कि संत नागरीदास की माता के देहावसान के कारण उनके मन में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया था। रचनाकार के अनुसार वैराग्य के कारण भी भक्ति भावना का उदय होता है। इसलिए आलोच्य ग्रन्थ में मनुष्य की बीजांकुर से जन्मावस्था तक की देहदशा को प्रकट किया गया है। कवि का मानना है कि बच्चा संसार की हवा लगते ही भगवान से दूर तथा मोह-माया के निकट होता जाता है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि देहावस्थाओं से गुजरते हुए मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। अंतिम समय में नाना प्रकार के कष्टों, विकारों, आधियों-व्याधियों से घिर जाता है, तब उसे भगवान याद आते हैं। इसलिए वे साधक को समझाते हैं कि मनुष्य योनि करोड़ों तपों का फल है। अतः मनुष्य को गर्भ से ही भगवत भक्ति में लग जाना चाहिए -

''कलि में तें क्यों भक्त कहावै।
वृद्ध होय जे विमुख संग फिरि देस-देस उठि धावै।।
होत निरादर दुख नहिं मानत, नींव देत अति औंड़ी।
चेतत नहीं, बनत सिर ऊपर यह, घरियाल काल की डौड़ी।।
बिन जमुना परसै क्यों उतरत, स्वेत कचन बिच धूर।
'नागर' स्याम बैठि नहिं सुमिरत, ब्रज की जीवन मूर।।''[4]

कृष्ण की बाल लीला का वर्णन

संत नागरीदास ने अपने 'छूटक पदों' में कृष्ण के बाल स्वरूप का वर्णन किया है। उनकी रुचि बाल लीला वर्णन में अधिक रमी है। इसमें वैराग्य व भक्ति सम्बंधी विशिष्ट पद हैं। 'छूटक पदों' में ब्रज वर्णन, वृन्दावन प्रेम, कलिकाल वर्णन, कृष्ण भक्ति, राधा-कृष्ण के युगल प्रेम को प्रकट किया गया है। 'छूटक पदों' में कवि ने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का ही अनुसरण किया है। कवि ब्रज, वृन्दावन व कृष्ण प्रेम को प्रकट करते हुए कहते हैं-

''हम तो वृंदावन रस अटके।
जब लगि इहि रस अटके नाहीं, तब लगि बहु विधि भटके
भए मगन सुख सिंधु माझ ह्या, सब तजि कै जग खटके
अब बिलास रस रासहि निरखत नागरि-नागर नट के।।''[5]

संत नागरीदास रचित 'ब्रजलीला' का आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध है। आलोच्य कवि नागरीदास पर सूरदास की रचनाओं का गहरा प्रभाव था, यह प्रभाव इस कृति पर भी स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसमें कृष्ण वन्दना, कृष्ण का पालना झूलन, दावानल, माखन चोरी, गोचारण लीला, वत्स हरण, चीरहरण, रासारम्भ, रास-रमन, गोपी-कृष्ण प्रेम, गोपियों की विनती पर कृष्ण का ब्रज आगमन, रासलीला, जल-विहार आदि प्रसंगों का मनोहर वर्णन हुआ है। सूरदास की तरह ही कवि नागरीदास कृष्ण के बाल स्वरूप तथा राधा की मधुर व रमणीय छवि को हृदय में बसाना चाहते हैं। राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप को आत्मसात करते हुए युगल स्वरूप की आराधना इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य है-

''गिरि गिरि परत विमल नग भूपन, रही जु तन सुधि नाहीं।
रसानन्द सागर अति बाढ्यो, मगन भए तिहि माहिं।।
मंडल रास बीच दोउ उरझे, गर बाहीं पिय प्यारी।
नागरिदास बसो हिय राधा अरु श्री कुंजबिहारी।।''[6]

रसखान से प्रभावित होकर संत नागरीदास ने 'ब्रज लीला' ग्रन्थ की रचना की। जिस प्रकार रसखान 'मानुस हो तो वही रसखानि' कहकर हर परिस्थिति में ब्रज में ही रहना चाहते हैं और ब्रजभूमि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं, ठीक उसी प्रकार नागरीदास भी इस ग्रन्थ में बैकुण्ठ की तुलना में ब्रज को विशिष्ट समझते हैं।

''ब्रज को स्वाद बैकुंठ मैं नाहीं।
हरिगुन कथा भई जब मीठी, ब्रज रस मिल्यो तबै ता माहीं।।
ब्रज रस बिन रसिक कहा गाते, ब्रज बिन रस मरि जातो।
ब्रज महिमा कौ वेई जानें, जिनकौ ब्रज सौं नातो।।
भुवन चतुर्दस माझ धन्य ब्रज, धन धन ये ब्रजवासी
नागरिदास धन्य है सोई, जो ब्रज-रैन उपासी।।''[7]

इस प्रकार भक्तवर कवि नागरीदास के भक्ति साहित्य में ब्रज, वृन्दावन तथा राधा-कृष्ण के प्रति दृढ़ आस्था दिखाई देती है। कवि राधा-कृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु, स्थान आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहते हैं। ब्रजसार, विधि प्रकाश, ब्रज मंडल महिमा, उत्सव माला, वैराग्य वटी, रैन रूपा रस, रास रसलता आदि अन्य भक्तिपरक ग्रंथ हैं जिनमें राधा-कृष्ण की रमणीय छवि का चित्रण नागरीदास ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है। वैराग्य भाव ने नागरीदास को भक्ति की ओर उन्मुख किया। वैराग्य ही मनुष्य को

शक्ति का अहसास कराता है तथा नागरीदास की भक्ति इसी प्रकार की थी। शक्ति की इसी सत्ता के समक्ष वह आत्मसमर्पण करता है, इसी से भक्ति का उदय होता है। इन सबके अतिरिक्त उत्सव, सांझ के पद, पर्व आदि को भी काव्य का आधार बनाया है। होरी के कवित्त, बसंत वर्णन, फाग विहार, निकुंज विलास, नखशिख, शिखनख, चर्चरियाँ, रेखता, बैन विलास गुण, रस प्रकाश आदि अन्य ग्रंथों की रचना नागरीदास ने शृंगार व भक्ति के अन्तर्गत ही की है।

नीतिपरक साहित्य – वैसे तो संत नागरीदास के सम्पूर्ण साहित्य की मूल चेतना की आधारभूमि भक्ति ही है परन्तु रचनाकार अपने युग का चारण होता है। उसका साहित्य एकांगी नहीं हो सकता। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि संत नागरीदास का संबंध किशनगढ़ राजघराने से है। इसलिए उनके साहित्य में नीतिगत पद होने स्वाभाविक हैं। अपने समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने नीतिगत साहित्य लेखन भी किया है। समकालीन सामाजिक चित्रण के साथ ही कवि ने प्रकृति, नीति-नियोजन, कलिकाल की बुराई, सांसारिक प्रपंच, सामाजिक वर्ण व्यवस्था, श्रद्धाभाव, छल-कपट, न्याय-अन्याय आदि के यथार्थ को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। सच्चे अर्थ में प्रजासेवक होने के नाते और उसका उद्धार करने के हेतु वे समाज को उसकी त्रुटियों से अवगत करवाना अपना परम धर्म समझते थे। ''महाराज नागरीदास ने अपनी उदार व परदुःखकातरता तथा संवेदनशील दृष्टिकोण से समाज की वर्ण व्यवस्था व धार्मिक आडम्बरों को आड़े हाथों लिया। उन्होंने पाखण्ड, अत्याचार, दम्भ, मिथ्या आचार-विचार का विरोध प्रदर्शन किया। इसी अवधारणा को लेकर कवि नागरीदास के नीतिपरक भावों को तुष्टि मिली है। कवि 'वृन्द' का साहचर्य नागरीदास को नीति नियोजन में सुदृढ़ता प्रदान करता है।''[8] नागरीदास के ग्रंथ 'छूटक पद' में कलिकाल की बुराई प्रकट की गई है

''आयो आयो रे कलिकाल आयो ।
धरमहि मार उठावत आतुर, अधरम राज सवायो ।
अमर मानि छन- भंगुर तन नर, पाप करत न सकायो ।
छल करि पुत्र पिता कौ मारत, पिता पुत्र हित कै सुख पायो ।।''[9]

कवि नागरीदास अस्थिर मन को विकृति मानते हुए चंचल मन की स्थिरता को ही सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मानते थे। अस्थिरावस्था में मन ईश्वरोपासना में बाधा उत्पन्न करता है तथा मनुष्य के लिए वस्तुजगत ही सर्वोपरि हो जाता है। अतः मन को वश में करना सभी समस्याओं के समाधान में सहायक माना जा सकता है। कवि नागरीदास के ग्रंथ 'छूटक पद' में इसका उदाहरण इस प्रकार है-

''मन ही लगाय थिर कीजै, हरिभक्ति मांझ, नागर चरन चित जब थिर है गहै।।''

भक्तवर नागरीदास ने हरि भक्ति को ही कलियुग से पार पाने का सबसे बड़ा सम्बल बताया है। कलियुग का सामान्य वर्णन, जिसमें वर्ण व्यवस्था, स्त्रियों की दशा, ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा, आपसी धार्मिक वैमनस्य आदि का विशिष्ट वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। नागरीदास का कलिकाल वर्णन नीतिपरक साहित्य का उत्कृष्ठ उदाहरण है। वर्गों की व्यवस्था में एक-दूसरे की बुराई के अलावा दूसरा कोई काम नहीं था, जो आपसी वैमनस्य की राह पर बढ़ता ही गया। रचनाकार ने कलियुग के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुआ लिखा है कि-

''देखो सच जीवन की ख्वारी।
महा घोर कलिजुग की भामिनि, कलह भई सबहीं कै प्यारी।।
लगी रहै उर अन्तर माहीं, भावत नाहिं करी छिन न्यारी।

याही कौं सर्वस करि जानै, सकल सुखन की बात बिगारी।।
यह जारन को नित्त लरावै, फिरि राखें ज्यों की त्यौं यारी।
'नागरिया' केवल भक्तन इहिं दारी दूर निकारी।।''[10]

निम्बार्क सम्प्रदाय व वल्लभ सम्प्रदाय में नीति, शास्त्र, धर्म, चिकित्सा आदि के बोध का आरम्भ से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वयं नागरीदास भी शास्त्रों के जानकार थे। उन्होंने वस्तु की उपयोगिता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किये तथा सांसारिक जीवन में किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता के आधार पर ही निर्धारित किया-

''नीको हूँ फीको लगे, जा जाके नहिं काज।
फल आहारी जीव के, कौन काम को नाज।।''

भक्तवर नागरीदास जीवनारम्भ से ही सहृदयता एवं संवेदनशीलता तथा उदारता का परिचय देते रहे हैं। सामान्य जन के प्रति इनका हृदय सदैव मंगल की कामना करता रहा। समाज में व्याप्त विसंगतियों का वे काव्य के माध्यम से निराकरण करने का प्रयास करते रहे। माया, चोरी-डकैती, जेबकतरों, बाजार, हड़ताल, जुआ खेलना, चोपड़ खेलना आदि विसंगतियों का इन्होंने खूब खंडन किया है। कवि नागरीदास इन सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाकर सामान्य जन के हृदय में भगवत भक्ति का प्रसार करना चाहते थे। सामाजिक बुराइयों में स्त्री का शोषण, सामन्तों की कूटनीति, अत्याचार आदि को भी इन्होंने काव्य में प्रस्तुत कर जनता को अवगत कराया है। मध्यकालीन उत्तरार्द्ध में स्त्री को भोग्य मात्र तथा मनोरंजन का साधन समझा जाने लगा था। पुरुष प्रधान समाज स्त्री की इस तात्कालीन स्थिति को नजरअंदाज करता रहा। अतः वह माया-मोह रूपी जाल में फंसता गया। मुगलकाल में भटियारी स्त्रियाँ पुरुषों का मनोरजंन करने हेतु रखी जाती थी। पुरुष मदहोश हो उनके पीछे परिवार, माया, जगत यहाँ तक कि स्वयं को भी खो देता था।

इस प्रकार महाराज नागरीदास ने रीतिकालीन कवियों की भांति काव्य को सामाजिक उद्धार का माध्यम बनाया। सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान करने में वे समकालीन परिवेश में भी पीछे नहीं हटे तथा निरन्तर काव्य रचना करते रहे। गृह-कलह के कारण राज्य त्यागकर वृन्दावन जाना तथा भक्ति में रत होना, नागरीदास के सहृदय होने का प्रमाण है। इसी कारण कलियुग का सही चित्रण इनके काव्य में हो पाया है।

राजनीतिपरक साहित्य - नागरीदास पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों का अत्यधिक प्रभाव था। वे कृष्णगढ़ के युवराज थे। नागरीदास का मुगल दरबार से सीधा एवं निकट सम्पर्क था। कृष्णगढ़ नरेश मुगल दरबार की सेवा में आरम्भ से ही तत्पर थे। दिल्ली दरबार में रहकर इनको मुगलों की सेवार्थ उपस्थित रहना पड़ता था। नागरीदास अपने पिता महाराजा राजसिंह की मौजूदगी से ही दिल्ली में मुगल बादशाहों के सानिध्य में रहने लगे थे। यहाँ रहकर नागरीदास ने मुगलों की नीतियों, व्यवहार, व्यवस्था, शासन प्रणाली, सामाजिक स्थिति आदि को भलीभांति जान लिया था। मुगलों का साथ नागरीदास को अत्यधिक प्रभावित करता है। इनका काव्य भी मुगल शासकों की नीतियों से बच नहीं पाया है। दोहा, कवित, पद आदि में दिल्ली दरबार का व्यावहारिक चित्र प्रस्तुत किया है। राजनीतिक घटनाओं, तत्कालीन शासकों की नीति, व्यवहार, उनके द्वारा किये गये कार्यों, लगान, कर, शासकों की अशक्तता, बख्शिसों आदि को काव्य में यथोचित स्थान दिया है। वे कृष्णगढ़ तथा मुगल दरबार की वैभव विलास की सम्पूर्ण सामग्रियों से परिचित थे। भावुक हृदय होने के कारण इस वैभव विलास को साहित्य में स्थान दिया। उन्होंने सामंतों के वैभव-विलास का सटीक वर्णन किया है। यहाँ ईश्वर के सानिध्य सुख की प्राप्ति तथा भक्ति के महत्व को

प्रतिष्ठित करते हुए वस्तुजगत को विलासिता में उदय-अस्त होते हुए बताया है।

''सुरपति तैं वैभव अधिक, उदय अस्त लौं राज।
यह प्रभुताई स्वप्न सुख, भक्ति बिना किहि काज।।''

उक्त दोहे के माध्यम से राज्य के वैभव को व्यर्थ बताकर हरि भक्ति को उन्होंने महत्वपूर्ण माना है। कवि के अनुसार भक्ति के बिना तप, अष्ट सिद्धि, पांडित्य, चातुर्य आदि निरर्थक हैं। एक अन्य ग्रंथ में कवि ने मुगल बादशाहों के कृतित्व का सहज वर्णन किया है। बादशाह मोहम्मद बिन तुगलक के द्वारा चलाये गये चमड़े के सिक्कों की घटना इनके हृदय में जम गई जिसका उल्लेख भी उन्होंने किया है

''ए अभिमानी मुरलिया, करी सुहागनि स्याम।
अरी चलाये सबलि पै, भले चाम के दाम।।''

मुगल बादशाह अशक्त होते जा रहे थे जिसके कारण सामान्य जनता को उनकी अनेक शोषणकारी नीतियों का सामना करना पड़ा। 'उत्सव माला' ग्रन्थ में नागरीदास ने 'वृषभान' के यहाँ राधा के जन्मोत्सव का मनोहर चित्रण किया है। उत्सव में बधाई के पद के साथ ही कुछ राजसी ठाठ-बाट की वस्तुओं का भी उल्लेख हुआ है। कवि के इस प्रकार के वर्णन से उन पर मुगल दरबार की रीति परम्परा का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है-

अरे लोगौं आज इहाँ, सादी-सी क्या है।
गोपियाँ हुँ गोप दान, देते ल्या ल्या है।।
स्यादी ब्रजराज जू कैं, रोसनी लगाई।
फिररि रिररि ररि ररि, छुटती हवाई।।
गाय बखसी, बैल बखसे और बखसे घोड़े।
डूबे निहाल अमलदार, टूटे अरु षोड़े।।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन्होंने सम्पूर्ण काव्य रचनाओं में राधा-कृष्ण की उपासना, युगल स्वरूप की झांकियाँ, ईश्वर प्रेम आदि पर विशेष बल दिया है। सामयिक प्रभाव के कारण अन्य विषयों का भी उनके काव्य में प्रतिपादन हुआ है।

पाद टिप्पणियाँ -

1. भक्तवर नागरीदास- डॉ. फैयाज अली खां, पृ.सं. 128
2. बन जन प्रशंसा -नागरीदास, पद संख्या 2
3. छूटक पद-नागरीदास, पद संख्या 37
4. छूटक पद-नागरीदास, पद संख्या 38
5. छूटक पद-नागरीदास, पद संख्या 118
6. ब्रज लीला-नागरीदास, पद संख्या 18
7. ब्रज लीला-नागरीदास, पद संख्या 146
8. भक्तवर नागरीदास- डॉ. फैयाज अली पृ.सं 364
9. छूटक पद-नागरीदास, पद संख्या 7
10. छूटक पद-नागरीदास, पद संख्या 8

- सह आचार्य, हिंदी विभाग
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
बांदरसिंदरी, किशनगढ़ (राजस्थान)-305801
Email - srathore@curaj.ac.in, मो. : 9928344566

प्राचीन वैज्ञानिक-ऋष्यशृंग ऋषि

- प्रो. (डॉ.) राकेश कुमार आर.पटेल।

प्रस्तावना - भारतीय ऋषियों ने न केवल धर्म और दर्शन के क्षेत्र में, बल्कि विज्ञान के कई क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। खगोल विज्ञान में आर्यभट्ट ने शून्य की अवधारणा, दशमलव प्रणाली और ग्रहों की गति का अध्ययन किया। वशिष्ठ ऋषि ने नक्षत्रों की स्थिति का अध्ययन कर खगोल विज्ञान पर ग्रंथों की रचना की। भृगु ऋषि ने ग्रहों की गति और ग्रहण की गणना की खोज की। गणित में बौधायन ऋषि ने ज्यामिति और त्रिकोणमिति के सिद्धांतों का विकास किया। आर्यभट्ट ऋषि ने बीजगणित और कलन के सिद्धांतों का विकास किया। भास्कराचार्य ने बीजगणित, कलन, और त्रिकोणमिति में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

वहीं चिकित्सा के क्षेत्र में चरक ने आयुर्वेद की नींव रखी और रोगों का इलाज खोजने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वैद्यनाथ ने आयुर्वेदिक औषधियों और उनके उपयोगों का अध्ययन किया था। कृषि में कण्व ने कृषि के विभिन्न तरीकों और तकनीकों का विकास किया था। वशिष्ठ ने कृषि पर ग्रंथों की रचना की। विश्वामित्र ने कृषि के लिए सिंचाई प्रणाली का विकास किया था। आज आपके साथ एक अत्यंत तेजस्वी ऋषिवर्य ऋष्यशृंग का परिचय और उनके कार्य के बारे मे चर्चा करेंगे।

बीज शब्द - ऋषि , संशोधन, ऋष्यशृंग ऋषि ,रामायण , दशरथ, पुत्रेष्ठि यज्ञ, देवता, पायस।

'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति - 'भारतीय ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति 'ऋषि' गतौ धातु से मानी जाती है। ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसार पारं वा। ऋषु + इगुपधात् कित् इति उणादिसूत्रेण इन् किञ्च्। इस व्युत्पत्ति का संकेत वायु पुराण, मत्स्य पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण में किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निवृत्तिरादितः। यस्मादेव स्वयंभूतस्तस्माच्चाप्यृषिता स्मृता।। वायु पुराण में ऋषि शब्द के अनेक अर्थ बताए गए हैं- ऋषित्येव गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ्। एतत् संनियतस्तस्मिन् ब्रह्ममणा स ऋषि स्मृतः।। इस श्लोक के अनुसार 'ऋषि' धातु के चार अर्थ होते हैं- गति, श्रुति, सत्य तथा तपस्। ब्रह्माजी द्वारा जिस व्यक्ति में ये चारों वस्तुएँ नियत कर दी जायें, वही 'ऋषि' होता है। वायुपुराण का यही श्लोक मत्स्यपुराण में किंचित पाठभेद से उपलब्ध होता है।

वेदों में ऋष्यशृंग ऋषि -

अंगदेशः- ऋग्वेद में अंगदेश का उल्लेख मिलता है। ऋष्यशृंग ऋषि अंगदेश में रहते थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि अंगदेश आधुनिक बिहार के भागलपुर और मुंगेर जिले में स्थित था। यह गंगा नदी के किनारे स्थित था। यह मगध राज्य का एक हिस्सा था। अन्य विद्वानों का मानना है कि अंगदेश आधुनिक पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद और बर्धमान जिले में स्थित था। यह भागीरथी नदी के किनारे स्थित था। यह बंग राज्य का एक हिस्सा था।

सूखाः- ऋग्वेद में सूखे का उल्लेख मिलता है। ऋष्यशृंग ऋषि ने अंगदेश को सूखे से बचाया था।

मेघावलीः- ऋग्वेद में मेघावली नामक अप्सरा का उल्लेख मिलता है। ऋष्यशृंग ऋषि की एक कथा मेघावली से जुड़ी हुई है।

ऋष्यशृंग ऋषि का परिचय - आज के कर्णाटक मे शंकराचार्य प्रणीत शृंगेरीमठ के नाम से प्रसिद्ध

एक पवित्र स्थान है, जो चिकमंगलूर जिले में आता है, जो महर्षि ऋष्यशृंग नाम के प्रसिद्ध ऋषि हो गए उनका स्थानक है।

ऋष्यशृंग ऋषि एक महान ऋषि थे, जिनका उल्लेख हिंदू धर्म के कई ग्रंथों में मिलता है। रामायण और महाभारत में उनका उल्लेख मिलता है। ऋष्यशृंग ऋषि का जन्म एक हिरणी के गर्भ से हुआ था। (रूपकात्मक भाषा का अर्थ अलग होता है। जैसे कि हिरणी जैसी डरपोक या संकोचशील महिला से जन्म हुआ होगा)। ऋषि विभाण्डक ने एक अप्सरा (अतिशय सुंदर महिला - स्वर्ग सुंदरी) को देखकर वीर्यपात कर दिया था, जो पानी में गिर गया। उस पानी को एक हिरणी ने पी लिया और उससे ऋष्यशृंग का जन्म हुआ। ऋष्यशृंग ऋषि ने अपने पिता ऋषि विभाण्डक से वेद-वेदांगों की शिक्षा प्राप्त की।

ऋष्यशृंग ऋषि ने जंगल में कठोर (ज्ञानप्राप्ति की) तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान शिव ने उन्हें कई वरदान दिए। (जैसे कि सूखे को कैसे दूर किया जाए या संतानविहीन महिला को कैसे सगर्भा माता बनाया जाये)। एक मान्यता के अनुसार ऋष्यशृंग ऋषि और शांता का पुत्र विभानु जन्म लेता है। विभानु के पुत्र वेदव्यास होते हैं, जिन्होंने महाभारत का संकलन किया था।

ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः।

ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारंभस्तदा ।।1-12-39।। रामायण -बालकाण्ड।।

महाभारत काल के शृंगी ऋषि कौन थे ?

महाभारत के आदिपर्व मे एक प्रसंग मे शृंगी ऋषि की बात आती है जो ऋष्यशृंग ऋषि ही थे ऐसा कई विद्वानों का मत है। पाण्डवों के स्वर्गारोहण के बाद अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित ने शासन किया। उनके राज्य में सभी सुखी और संपन्न थे। एक बार राजा परीक्षित शिकार खेलते- खेलते बहुत दूर निकल गए। परीक्षित शिकार के लिए बहुत भटके लेकिन कहीं शिकार नहीं मिला। अंत में वे प्यास बुझाने के लिए भटकते हुए ऋषि शमिक के आश्रम में पहुँच जाते हैं जहाँ ऋषि समाधि में लीन मिलते हैं। (महाभारत, आदिपर्व 36, 17-21)

राजा ने ऋषि से कहा कि हमें प्यास लगी है हमें पानी चाहिए, लेकिन ऋषि तो समाधि में थे। राजा परीक्षित ने कई बार ऋषि से पानी मांगा, लेकिन ऋषि ने कोई जवाब नहीं दिया। उस वक्त राजा के मुकुट में कलियुग बैठा था। राजा को क्रोध आया और उन्होंने उनका वध करने के लिए धनुष पर बाण चढ़ा दिया, लेकिन संस्कारवश उन्होंने खुद को ऋषि की हत्या करने से रोक लिया। तब उन्होंने वहाँ मरे पड़े एक सांप को महर्षि शमिक के गले में डाल दिया और वहाँ से चले गए। शमिक ऋषि के शृंगी नाम का एक महातेजस्वी पुत्र था। वह घटना के समय आश्रम पर नही था। आश्रम लौटने पर उसने पिता के गले में मृत सर्प लटका देखा। कोपशील शृंगी ने पिता के इस अपमान को देखकर हाथ में जल लेकर शाप दिया कि जिस पापात्मा ने मेरे पिता के गले में मृत सर्प डाला है, सात दिवस के भीतर ही तक्षक नाम का सर्प उसे डसकर मृत्युलोक पहुँचा दे।

ऋषि को पुत्र के इस अविवेक पर अपार दुःख हुआ और उन्होंने एक शिष्य द्वारा परीक्षित को शाप का समाचार कहला भेजा जिससे कि वे सतर्क रहें। परीक्षित ने ऋषि के शाप को अटल समझ अपने पुत्र जनमेजय को शासक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और स्वयं एक ऊँचे प्रासाद पर सब ओर से सुरक्षित होकर रहने लगे। सातवें दिवस तक्षक ने आकर उन्हें डस लिया और विष के घातक प्रभाव से उनका शरीर मृत्यु को प्राप्त हो गया। कहते हैं, तक्षक जब परीक्षित को डसने चला तब मार्ग में उसे कश्यप ऋषि मिले।

पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे उसके विष से परीक्षित की रक्षा करने जा रहे हैं। तक्षक ने एक वृक्ष पर दाँत मारा, वह तत्काल जलकर भस्म हो गया। कश्यप ने अपनी विद्या से पुनः उसे हरा-भरा कर दिया। इस पर तक्षक ने बहुत सा धन देकर उन्हें बीच मार्ग से लौटा दिया।

ऋष्यशृंग ऋषि के कार्य – ऋष्यशृंग ऋषि ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। उन्होंने राजा दशरथ के पुत्र प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ तथा पुत्रकामेष्टि यज्ञ में सक्रिय भाग लिया और उन्हें चार पुत्रों की प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। उन्होंने राजा रोमपाद के राज्य में वर्षा करवाई। उन्होंने शांतनु और सत्यवती के पुत्र व्यास को जन्म दिया। ऋष्यशृंग ऋषि एक महान ऋषि थे, जिनकी तपस्या और ज्ञान के कारण उन्हें अत्यंत सम्मान दिया जाता था। एक प्रकार से वे उस समय के गायनिकी मेडिकल प्रोफेशनल ही थे, ऐसा हम दावे के साथ कह सकते हैं। वाल्मिकी रामायण के बालकांड में कहा गया है-

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकार्भिऋषेः सुतः।
आनीतोऽवर्षयद् देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ।।1-8-17।।
ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति।
सनत्कुमारकथितमेतावद् व्याहृतं मया ।।1-8-18।।

अर्थात् अंगदेश के राजा ने ऋष्यशृंग को मनाने के लिए सुंदर स्त्रियों को भेजा और उनका ब्याह शांता से करवाया गया।

ऋष्यशृंग ऋषि के बारे में कुछ रोचक तथ्यः- उनके नाम को लेकर यह उल्लेख है कि उनके माथे पर सींग (संस्कृत में ऋंग) जैसा उभार होने की वजह से उनका यह नाम पड़ा था। वर्षों तक तपस्या के पश्चात उनके माथे का सींग लुप्त हो गया था। उनका विवाह अंगदेश के राजा रोमपाद की दत्तक पुत्री शान्ता से सम्पन्न हुआ था, जो कि वास्तव में राजा दशरथजी की पुत्री थीं। ऋष्यशृंग के पैदा होने के तुरन्त बाद उर्वशी का धरती का काम समाप्त हो गया तथा वह स्वर्गलोक के लिए प्रस्थान कर गई। इस धोखे से विभाण्डक इतने आहत हुए कि उन्हें नारी जाति से घृणा हो गई तथा उन्होंने अपने पुत्र ऋष्यशृंग पर नारी का साया भी न पड़ने देने की ठान ली और उनको जंगल मे रहने के लिए भेज दिया। वहाँ उनके लिए सारी विद्याप्राप्ति की सुविधा कर दी थी। प्रकृति के साथ रहने से वो कुदरत के कानूनों को भी अच्छी तरह समझने लगे। वर्षा कब, कैसे और किस तरह बरसायी जा सकती है ये सब उन्होंने जान लिया। वर्षा रोकने के भी उपाय सीख लिए थे। उसी तरह निःसंतानता के उपाय भी उन्होंने खोज निकाले थे।

वर्षायज्ञ के जानकार- ऋष्यशृंग का पालन-पोषण एक अरण्य में हुआ था। अरण्य अंगदेश की सीमा से लगा हुआ था। उनके घोर तप तथा क्रोध के परिणाम अंगदेश को भुगतने पड़े जहाँ भयंकर अकाल छा गया। अंगराज रोमपाद (चित्ररथ) ने ऋषियों तथा मंत्रियों से मंत्रणा की तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि किसी भी तरह से ऋष्यशृंग को अंगदेश की धरती में ले आया जाता है तो उनकी यह विपदा दूर हो जायेगी। अतः राजा ने ऋष्यशृंग को रिझाने के लिए देवदासियों का सहारा लिया क्योंकि ऋष्यशृंग ने जन्म लेने के पश्चात् कभी नारी का अवलोकन नहीं किया था। और ऐसा ही हुआ भी।

ऋष्यशृंग का अंगदेश में बड़े हर्षोल्लास के साथ स्वागत किया गया। उनके पिता के क्रोध के भय से रोमपाद ने तुरन्त अपनी पुत्री शान्ता का हाथ ऋष्यशृंग को सौंप दिया। ऋष्यशृंग ऋषि ने शांता को जंगल में ही विद्याध्ययन कराया। बाद में ऋष्यशृंग ने दशरथ की पुत्र कामना के लिए अश्वमेध यज्ञ तथा

पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया। जिस स्थान पर उन्होंने यह यज्ञ करवाये थे वह अयोध्या से लगभग 27 कि.मी. पूर्व में था और वहाँ आज भी उनका आश्रम है और उनकी तथा उनकी पत्नी की समाधियाँ हैं।

ऋष्यशृंग के पास अनेक विद्याएं थीं, जिनमें से प्रमुख हैंः -

धार्मिक ज्ञानः- ऋष्यशृंग वेद, शास्त्र, और मन्त्रों का गहन ज्ञान रखते थे। ऋषि-मुनियों के बीच उनका ज्ञान और विद्वत्ता प्रसिद्ध थी।

यज्ञ विद्याः- ऋष्यशृंग यज्ञों के विधान और उनके फल को जानते थे। उन्होंने अनेक यज्ञों का सफलतापूर्वक संचालन किया था।

ज्योतिष विद्याः- ऋष्यशृंग ज्योतिष विद्या में भी पारंगत थे। वे ग्रहों की चाल और उनके प्रभावों को जानते थे।

आयुर्वेदः- ऋष्यशृंग आयुर्वेद के ज्ञाता थे। वे औषधियों और उनके उपयोगों को जानते थे।

अन्य विद्याएंः- ऋष्यशृंग को भाषा, संगीत, और कला का भी ज्ञान था। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, हलायुध आदि ने इनके द्वारा रचित ऋष्यश्रृंग स्मृति का उल्लेख किया है। ऋष्यश्रृंग संहिता नामक ग्रंथ के रचयिता भी ये ही बताए जाते हैं। आचार, अशौच, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त आदि के बारे में इनके विचार मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचंद्रिका आदि ग्रंथों में मिल जाते हैं। मृगी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण बालक के सींग भी थे। इसी कारण उसका नाम 'ऋष्यश्रृंग' रखा गया।

आजकल जो आई.वी.एफ. जैसी तकनीक खोज निकाली गयी है उसी तरह उस समय भी विशेषज्ञ ऋषि विशेष तकनीक से संतान का जन्म करवा सकते थे। उस समय में कई बच्चे बिना पुरुष सम्भोग के पैदा हुए थे। जो तकनीकें आज खोजी जा रही हैं जिसमें बिना स्त्री के पुरुष पिता बन रहे हैं और बिना पुरुष के साथ के स्त्रियाँ बच्चों को जन्म दे रही हैं, उस तरह की तकनीक तो हजारों सालों पहले ही हिन्दू शास्त्रों में बताई गयी हैं। प्राचीन समय मे कर्ण का जन्म हो या कौरवों का जन्म भी विशेष तकनीकों से हुआ था।

संदर्भ-

1. https://www.vedicaim.com/2018/03/Rishyasringa.html

2.https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%8B%E0%A4%B7%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%B6%E0%A5%83%E0%A4%82%E0%A4%97

3. ऋग्वेद में अंगदेश का उल्लेख करते हुए कुछ श्लोकः- ऋग्वेद 1.112.14: ''अंगदेश के राजा सुदास ने दस राजाओं को पराजित किया।'' ऋग्वेद 1.117.21: ''अंगदेश के राजा सुदास ने दस राजाओं को हराया और गायों को वापस लाया।'' ऋग्वेद 10.107.8: ''अंगदेश के राजा सुदास ने दस राजाओं को हराया और अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया।''

4. अंग देश का सर्वप्रथम नामोल्लेख अथर्ववेद 5,22,14 में है- 'गंधारिभ्यं मूजवद्भयोड्गेभ्यो मगधेभ्यः प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तवमानं परिदद्मसि।' इस अप्रशंसात्मक कथन से सूचित होता है कि अथर्ववेद के रचनाकाल (अथवा उत्तर वैदिक काल) तक अंग, मगध की भांति ही, आर्य-सभ्यता के प्रसार के बाहर था, जिसकी सीमा तब तक पंजाब से लेकर उत्तरप्रदेश तक ही थी।

5. महाभारतकाल में अंग और मगध एक ही राज्य के दो भाग थे। शांति पर्व 29,35 (अंगं बृहद्रथं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम') में मगधराज जरासंध के पिता बृहद्रथ को ही अंग का शासक बताया गया है।

6. https://sringeri.net/history/sage-rishyashringa

- चिल्ड्रन्स रिसर्च यूनिवर्सिटी, गांधीनगर (गुजरात)
प्लॉट - 447/1, शिवशक्ति टेम्पल के पास
सेक्टर-5-A, गांधीनगर (गुजरात)-382006
मो. : 9408640930

संत कबीर का समाज दर्शन

- डॉ. मलकीयत सिंह

भारतीय चिंतन की परंपरा के अनुसार भक्तिकालीन कवियों ने अपने आपको आम जनता के प्रति समर्पित कर दिया था, उनमें किसी प्रकार की यश लिप्सा नहीं थी। हिंदी साहित्य के इतिहास में संत कबीर एक व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु जागरण युग के अग्रदूत के रूप में प्रतिष्ठित थे। भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी शाखा के प्रवर्तक, भारतीय जनमानस को जागृति का प्रकाश प्रदान करने वाले संत कबीर के जन्म-मृत्यु, लालन-पालन,, माता-पिता और गुरु के बारे में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। अधिकतर विद्वान इस मत से सहमत हैं कि एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से कबीर जन्म हुआ था, किंतु लोकलाज के डर से उसने उस बालक को लहरतारा तालाब के निकट छोड़ दिया। जहाँ से निःसंतान जुलाहा दंपत्ति नीरू और नीमा ने उनका पालन-पोषण किया। एक मत के अनुसार ''कबीर साहब शुकदेव जी के अवतार माने जाते हैं। कहा जाता है कि महादेव जी की आज्ञा से शुकदेव जी लोककल्याण के लिए पृथ्वी पर आए, किंतु पूर्वजन्म में वे 12 वर्ष तक गर्भवास का दुःख भोग चुके थे इसलिए इस बार गर्भवास से बचने के लिए उन्होंने अपने को सीपी में बन्द कर दिया और गंगा के बहाव में छोड़ दिया। यही सीपी बहते हुए लहरतारा तालाब में पहुँच गई और देवयोग से वहीं पुरइन पात पर खुल गई जिससे एक सुंदर बालक प्रकट हुआ। यही बालक आगे चलकर कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।''[1] कबीर के युग में साधारण जनता धर्म और जाति के नाम पर बाह्य आडंबरों, पाखंडों, खोखले आदर्शों में लीन थी। सभी धर्मगुरु धर्म के नाम पर अपने निजी स्वार्थ के लिए सीधी-साधी जनता को ठगते और लूटते थे। ऐसी परिस्थिति में संत कबीर ने समाज में नई चेतना लाने का प्रयास किया। वह ऐसे समाज की कल्पना करते थे जिसमें सभी मानव प्रेम भाव से रहें और मनुष्य के मन में मानवतावादी भावना उत्पन्न करने के लिए वह प्रेमभाव को ही प्रमुख मानते थे। उन्हें पता था कि किसी भी मनुष्य से निस्वार्थ प्रेम करना सरल कार्य नहीं है। निस्वार्थ प्रेम की भावना बहुत कम लोगों के मन में होती है। यही कारण है कि संत कबीर धर्म के ठेकेदारों को, जो वेदशास्त्रों का अध्ययन कर अहंकार के कीचड़ में डूबे हुए थे, उन्हें प्रेम के ढाई अक्षर पढ़ने के लिए कहते हैं - ''पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई, ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।''[2] इस प्रकार हृदय में प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम न हो तो शब्दों से प्रभु को पुकारना व्यर्थ है। केवल धर्म ग्रंथों का अध्ययन करने से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता।

संत कबीर की शिक्षाओं को लेकर यह समझ लेना आवश्यक है कि कबीर ज्ञानी नहीं अपितु अपने अनुभव के आधार पर एक उपदेशक थे जिसके कारण उन्हें सच्चे अर्थों में एक समाज सुधारक माना गया है। ''मसि कागद छुयो नहीं कलम गही नहीं हाथ'' का उद्घोष करने वाले कबीर को भले ही शास्त्र ज्ञान न हो पर व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में उन्हें महारत हासिल थी। वह समाज की प्रत्येक परिस्थितियों से परिचित थे। उन्होंने उन परिस्थितियों को भोगा भी, यही कारण है कि कबीर के काव्य में समाज दर्शन परिलक्षित होता है। कबीर-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि गरीबी से अधिक सामाजिक उपेक्षा एक मनुष्य के लिए अधिक अपमानजनक होती है। जाति-पांति के आधार पर समाज का विभाजन

पारस्परिक संबंधों में कटुता बढ़ाता है। कबीर के युग में समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था की विकृतियाँ अत्यंत अमानवीय अवस्था में पहुँच चुकी थी। हिंदू -मुस्लिम का आपसी बैर, उच्च वर्ण और निम्न वर्ण के बीच द्वेष आदि संघर्षों से पूरी मानवता त्रस्त थी। संत कबीर ने धर्म, संप्रदाय और जातियों में विभाजित मानवता को एक सूत्र में लाने का यत्न किया। उन्होंने जाति-पांति की दीवारों पर कटाक्ष किया जिससे उनकी वाणी से धर्मगुरु बेचैन हो उठे। डॉ. रामचंद्र तिवारी का विचार है कि ''वह समाज रचना के लिए किसी प्रकार के सुधारवादी आंदोलनों के पुरुस्करता न होकर मानव आत्मा की मुक्ति के लिए आध्यात्मिक संघर्ष करने वाले साधक थे।''[3]

कबीर के युग में समाज में ऐसी कोई कुरीति न थी जिसके बारे में कबीर सचेत न रहे हों। उस समय यह धारणा प्रचलित थी कि काशी में मृत्यु होने पर स्वर्ग मिलता है और मगहर में नरक। अपने जीवनकाल में उन्होंने इस तरह की धारणा का विरोध किया। कबीर जी लिखते हैं-

''लोका मति के भोरा, जो काशी तन तजे कबीर तो राम ही कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे, एह जन्म का लाहा।
ज्यों जल में जल पैसी न निक्से, यूं मिले जुलाहा।
राम भक्ति परि जाको हित चित्त, ताको अचरज कहा।
गुरु प्रसाद साध की संगति, जग जीते जाई जुलाहा।
कहे कबीर सुनुह संतों भ्रमी परे जिन कोई।
जस काशी तस मगहर ऊसर हृदय राम सती होई।''[4]

इस तरह कबीर जी कहते हैं कि जिसके हृदय में राम का वास है उसके लिए काशी और मगहर दोनों बराबर हैं। भारतीय समाज दर्शन में मुख्य रूप से धर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था एवं धर्म आते हैं। वर्तमान भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप देखने को मिलता है। आज संत कबीर के दर्शन को आधार बनाकर धर्म में व्याप्त वर्ण व्यवस्था को दूर करने के लिए तथा एक आदर्श समाज की स्थापना के लिए कबीर साहित्य का अनुसरण करने की आवश्यकता है। क्योंकि संत कबीर की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि कुरीतियों को समाप्त करने संबंधी सूक्तियाँ समाज दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। आज संपूर्ण मानव समुदाय को कबीर के साहित्य को अपने व्यावहारिक जीवन में उतारने की आवश्यकता है ताकि एक नवीन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चरित्रवान समाज का सृजन हो सके, ताकि समाज में जाति-पांति, ऊँच-नीच, धार्मिक बैर आदि का लेशमात्र भी अंश न हो, तभी हम एक स्वच्छ समाज का निर्माण कर सकते हैं। डॉ सुभाष चंद्र लिखते हैं कि ''कबीर, नानक, रैदास, दादू आदि संतों का तेजस्वी काव्य सांस्कृतिक समन्वय की स्थितियों से उपजा काव्य है न कि सांप्रदायिक द्वेष व घृणा से जैसा कि साम्राज्यवादी व सांप्रदायिक इतिहास दृष्टि प्रस्तुत करती है।''[5]

इस प्रकार सामाजिक चेतना को समाज में बिखेरने का अद्वितीय साहस संत कबीर ने किया है। सामाजिक चेतना के संदर्भ में इनके साहित्य में भक्ति, दर्शन, मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा, समाज सुधार, प्रेम, रूढ़िवादी परंपराओं एवं अंधविश्वासों का विरोध आदि के रूप में देखने को मिलता है। अशिक्षित होने के बावजूद संत कबीर अपने जीवन के संचित अनुभवों को किस तरह अपने साहित्य में प्रकट करते हैं, वह

आज भी समस्त मानव जाति के लिए मूल्यवान है। समाज में व्याप्त धार्मिक आडंबरों, कुरीतियों, रूढ़िवादी परंपराओं आदि पर कटाक्ष कर उन्होंने मानव आत्मा में अलख जगाने का जो साहस किया है उसके मूल में भारतीय संस्कृति की परंपरा विद्यमान है। उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य हिंदू-मुसलमानों में भावात्मक एकता स्थापित कर विश्वजन्य मानव धर्म को प्रतिष्ठित करना था। संत कबीर लिखते हैं ''रज गुन ब्रह्म, तम गुण संकर, सत गुन हरि है सोई। कहे कबीर एक राम जपु हिंदू तुर्क न कोई''[6] संत कबीर सत्य पथ पर चलने वाले ऐसे मानव थे जिन्होंने सामाजिक बंधनों को जोड़ने तथा रुढ़िवादी परंपराओं को तोड़ने के लिए अपना पूरा-पूरा जीवन लगा दिया। भारतीय समाज में जाति-पांति का उन्होंने खंडनात्मक तरीके से विरोध किया। इसके अतिरिक्त धर्म के नाम पर व्याप्त हिंसा का विरोध करते हुए दोनों धर्मों के धर्मगुरुओं से बचने का उपदेश दिया। हिंदुओं और मुसलमानों में कुर्बानी देने वालों को उन्होंने निर्भीकता से फटकार लगाते हुए कहा है ''दिन को रोजा रहत है, रात हनत है गाय। यह खून वह बंदगी, कहुं क्यों खुशी खुदाय।''[7] इस तरह संत कबीर उन्हें ही सच्चा मानव मानते हैं जिसके पास ईमान है। वह हिंदू और मुस्लिम दोनों में इस तरह की संस्कृति का समर्थन करते हैं जिससे दोनों धर्मों के अनुयायियों में भाईचारे की भावना उजागर हो। भारतीय संस्कृति में व्याप्त उदात्त मूल्यों जैसे दया, करुणा, अहिंसा, धैर्य, प्रेम, सेवा, क्षमा, परोपकार, सत्संग आदि का प्रचार भी कबीर के साहित्य में देखने को मिलता है। उनका विचार था कि मानव इन सकारात्मक मूल्यों को अपनाकर एक संतुष्ट, सात्विक एवं पवित्र जीवन जी सकता है। कबीर ने खंडनात्मक शैली में जो उपदेश दिया है उसमें मानवता की पुकार है। जीवन की सरलता, मन की पवित्रता, नैतिकता, आत्मा की शुचिता उनके सामाजिक सुधारों का मुख्य उद्देश्य था। आज भी भारतीय समाज में धर्म, जाति, छल पाखंड, अहंकार, ईर्ष्या, वैर आदि का बोलबाला है। समाज में नकारात्मक एवं मानव एकता की विरोधी शक्तियाँ आज भी विद्यमान हैं। वर्तमान परिस्थितियाँ कबीर युग की परिस्थितियों से भिन्न नहीं हैं। अलग-अलग धर्मों को मानने वालों के बीच वैमनस्य भले ही बाहर प्रकट न हो लेकिन अंदर ही अंदर सब एक दूसरे से घृणा करते हैं। कबीर ने अपनी वाणी द्वारा समाज में इस तरह की विकृतियों का विरोध कर उसे जड़ से उखाड़ने का प्रयास किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है ''उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं इसमें दो मत हो सकते हैं पर औषधि निर्वाचन में उन्होंने बिलकुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद् विश्वास''[8]

संत कबीर अपने युग के सबसे बड़े समाज सुधारक थे। उनका यह स्वभाव उनके युग की सामाजिक विसंगतियों की प्रतिक्रिया का परिणाम था। उस समय समाज में भयंकर विषमताएँ पनप रही थीं। कबीर उन विषमताओं को धर्म और समाज से हटाने में जुट गए थे, जिससे स्वतः सिद्ध होता है कि संत कबीर का उद्देश्य समाज सुधार करना था। संत कबीर ने दर्शन, समाज, धर्म, रूढ़िवादी परंपराओं, पाखंड आदि सभी क्षेत्रों में सुधार करने का सराहनीय कार्य किया है। तत्कालीन समाज में संत कबीर से पहले कितने ही समाज सुधारक हुए परंतु उनमें निर्भीकता से कहने का उतना साहस नहीं था जितना संत कबीर ने दिखाया। ऐसे वर्गविहीन समाज की वे स्थापना करना चाहते थे जिसमें वर्ण व्यवस्था और धर्मगत भेद न हो। कबीर का मत था कि संपूर्ण संसार की उत्पत्ति पंच तत्वों से हुई है, सब में एक ही ज्योति व्याप्त है। वह समाज में नए मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा रूढ़िवादी परंपराओं और अंधविश्वासों में पड़े हुए मनुष्यों

को सचेत करना अधिक आवश्यक समझते थे। डॉ0 राम सजन पांडे अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि ''संत हो चाहे असंत, गृहस्थ हो चाहे अगृहस्थ, सामाजिक रीतियों से हटकर यदि वे काव्य रचना की कामना करते हैं, तो असंभव सा प्रतीत होता है। बिना संस्कृति से जुड़े, बिना संस्कृति का भावन किए साहित्य सर्जना सरल-सुगम नहीं है। यद्यपि निर्गुण संतों की मूल चेतना ब्रह्म पर केन्द्रित थी तथापि वे सामाजिक रीतियों से बच नहीं पाए हैं।''[9]

निष्कर्ष है, कबीर के समग्र साहित्य का अध्ययन करने पर पता चलता है कि कबीर के व्यक्तित्व को अपने आचरण में उतारने की हम कोशिश करें। आज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को देखकर हमें लगता है कि हम उत्तर कबीर युग में जीवन जी रहे हैं, लेकिन आज भी कबीर युग की जटिल समस्याएँ हमारे समाज में मुँह बाए खड़ी हैं। संत कबीर ने निर्भीक, तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि से समाज में व्याप्त विषमताओं का जिस प्रकार चित्रण किया है, वह समस्त मानव जाति के लिए अनुकरणीय है। वह निर्गुण भक्त कवि होते हुए भी सामाजिक दायित्व का पूर्णतया निर्वहन करते हैं, उससे प्रतीत होता है कि संत कबीर के साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है- समाज में व्याप्त विसंगतियों का उन्मूलन। अतः आधुनिक भारतीय नवजागरण की चिंतनधारा में और आधुनिक समाज के निर्माण में कबीर के साहित्य की भूमिका प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

संदर्भ सूची :-

1. पारस नाथ तिवारी, कबीर, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृष्ठ 5
2. डॉ. जयदेव सिंह, डॉ0 वासुदेव सिंह, कबीर वाङ्मय, खंड 3,, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ 116
3. डॉ0 अलका वशिष्ठ एवं अजय गोयल, कबीर ग्रंथावली, साहित्य सरोवर, आगरा, पृष्ठ 68
4. डॉ0 युगेश्वर, कबीर समग्र-भाग एक, हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी, संस्करण 1998, पृष्ठ 690
5. डॉ0 सुभाषचन्द्र मांझी, संस्कृति की विरासत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण 2011, पृष्ठ 9
6. डॉ0 श्यामसुंदरदास, संपादित, कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ 94
7. डॉ0 युगेश्वर , कबीर समग्र-भाग एक, हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी, संस्करण 1998, पृष्ठ 487
8. डॉ0 अलका वशिष्ठ एवं डॉ0 श्याम द्वारा संपादित, कबीर ग्रंथावली, साहित्य सरोवर, आगरा, पृष्ठ 66
9. राम सजन पांडे, संतों की सांस्कृतिक संसृति, उपकार प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1995, पृष्ठ 59

- सह प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, (हिमाचल प्रदेश)-176215
मोबाइल नम्बर-7018156281

सश्रद्ध श्रद्धाँजलि - कीर्तिशेष श्री दीपचन्द जी सुथार, मेड़ता
निधन - 18 अगस्त 2024

भक्त शिरोमणि मीराबाई की जनस्थली मेड़ता (राजस्थान) के परम मीरा भक्त एवं विरासत प्रेमी वरिष्ठ साहित्यकार **श्री दीपचन्द जी सुथार** का **18 अगस्त 2024** को जोधपुर में आकस्मिक निधन हो जाने से मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़ उनके प्रति हार्दिक शोक एवं श्रद्धाँजलि अर्पित करता है। प्रभु दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे और उनके शोकाकुल परिजनों को इस वज्रपात को सहन करने की शक्ति देवें।

संपूर्ण विश्व की उत्कृष्ट संत साहित्य संपदा में, 'अक्का' का नाम अजर-अमर रहेगा

- डॉ. सुनीलकुमार यादव

भक्ति आंदोलन के साथ भारतीय समाज और साहित्य के विकास की नई अवस्था का आरंभ होता है। भक्ति आंदोलन व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन है जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, कला, साहित्य, भाषा और संस्कृति के दूसरे रूपों में दिखाई देती है। सामंती संस्कृति, दरबारी वातावरण और पुराने काव्यशास्त्रों के रीतिवाद से मुक्त भक्ति-काव्य 'लोकभाषाओं में जनसंस्कृति और जनभावनाओं की अभिव्यक्ति का काव्य है।' हिंदी साहित्य में उत्तर भारत में जिस प्रकार पुरुष भक्त संतों में कबीर, सूरदास, तुलसीदास, जायसी, बिहारी, भूषण प्रमुख हैं उसी प्रकार महिला भक्त संतों में कश्मीर की 'ललद्य' का, राजस्थान की 'मीराबाई' का स्थान महत्वपूर्ण है। उसी प्रकार दक्षिण भारत में महिला भक्त संतों में तमिलनाडु की 'आंडाल' का और कर्नाटक के कन्नड भाषा साहित्य में 'अक्कमहादेवी' को सर्वोच्च स्थान-मान प्राप्त है।

दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन में 'आलवार' संतों ने 'वैष्णव संप्रदाय' का और नयनार संतों ने 'शैव संप्रदाय' का प्रसार-प्रचार किया। महान शिव भक्तिनी, प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी और वचनकार माता अक्कमहादेवी का स्थान-मान कन्नड़ साहित्य में बारहवीं शताब्दी में महिला भक्त संतों में सुवर्ण अक्षरों से लिखा गया है। 'अक्का' कन्नड़ साहित्य में 'प्रथम कवयित्री' है और कन्नड़ साहित्य परंपरा में 'शिवयोगिनी' 'वैराग्यनिधि' 'विश्वचैतन्यदायी' 'अक्कमहादेवी' के नामों से विश्वविख्यात है। बारहवीं शताब्दी की प्रख्यात कन्नड़ कवयित्री- अक्का महादेवी एक परम शिव भक्त थीं। वीरशैव पंथ में कन्नड़ भाषा की कविता में इनका प्रमुख स्थान है। इनका जन्म दक्षिण भारत के 'कर्नाटक' राज्य के 'शिवमोग्गा' जिला के 'शिकारिपुर' तालुक के 'उड़तड़ी' गाँव में हुआ था। पिता का नाम निर्मल शेट्टी और माता का नाम सुमति था। माता-पिता परम शिव भक्त थे और बचपन से ही 'महादेवी' भी शिव के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित थी। एक किंवदंती के अनुसार दस वर्ष की आयु में महादेवी ने शिव मंत्र की दीक्षा ली थी। अपने वचनों में अक्का 'शिव' (मल्लिकार्जुन) का सजीव चित्रण 'सगुण भक्ति' के रूप में करती है और माधुर्य भक्ति भाव रखती है।

अक्का 'शिव' को 'चेनमल्लिकार्जुन' अर्थात् ''सुन्दर चमेली के फूल के समान श्वेत, सुन्दर प्रभु कहकर संबोधित करती थी और शिव को ही अपना पति मान चुकी थी। अक्का कहती थी कि- ''वे केवल नाम मात्र को एक स्त्री है, किन्तु उनकी देह, मन, आत्मा सब शिव का है।'' 'महादेवी' से 'अक्कमहादेवी' के रूप में सम्मानित होने में जीवन की यातनाओं का, समकालीन सामाजिक परिस्थितियों का तथा विडंबनाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अक्कमहादेवी की लोकप्रियता और अक्षय कीर्ति का आधार उनका 'वचन' साहित्य है तो मीरा के लिए मीराबाई की 'पदावलियाँ' है। इस प्रकार कर्नाटक की अक्कमहादेवी की 'शिव' के प्रति श्रद्धा, प्रेम की तीव्रता, अनुभूति की गहराई, तन्मयता एवं उपासनाओं ने उन्हें कर्नाटक की श्रेष्ठ महिला संतों की श्रेणी में तथा वचनकारों की श्रेणी में विराजमान किया है। 'अक्कमहादेवी' कितने वर्ष जीवित रहीं यह सवाल आज भी सवाल ही है। एक मान्यता के अनुसार वे केवल पच्चीस वर्ष ही जीवित रही है। जीवन के इस छोटे से अंतराल में उन्होंने कर्नाटक के 'उड़तड़ी' से लेकर आन्ध्रप्रदेश के 'श्रीशैल' तक जो देखा और सहा और सीखा, वही ज्ञान उनके 'वचन' कहलाते हैं। अक्कमहादेवी' के नाम से प्रसिद्ध अक्का की वाणी 'वचन साहित्य' की गरिमा है, अलौकिक विश्व-दृष्टि की

अद्‌भुत गाथा है, रहस्यमय दृष्टि से चमकता सितारा है, वीरशैव पंथ की महान गाथा है, महिला संतों की शिरोमणि है, कर्नाटक की 'अक्का' यानी 'दीदी' हम सब की पूजनीय वंदनीय है।

'अक्कमहादेवी' ने कुल मिलाकर लगभग 430 वचन कहे थे, जो अन्य समकालीन संतों के वचनों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ हैं। जैसे 67-वचन त्रिपदी में 'योगगंगा त्रिविधि' 'शरणसती लिंगपति' आदि में अक्का के 'वचन' संग्रहीत हैं। वीरशैव पंथ के अन्य संतों के समक्ष जैसे बसव, चेन्नबसव, किन्नरी बोम्मैया, सिद्धर्मा, अल्लमप्रभु एवं दासीमैय्या द्वारा अक्कमहादेवी को भक्ति संतों की श्रेणी में ऊँचा दर्जा दिया गया था। 'अक्का' विशेष रूप से भारतीय इतिहास में एक अविभाज्य अंग हैं और महिला मुक्ति के आंदोलन की अग्रणी हैं। अक्का ने महिला सशक्तिकरण और आध्यात्मिकता के मिशन की शुरुआत बारहवीं शताब्दी में ही कर्नाटक से कर दी थी। अक्कमहादेवी के परम सौन्दर्य से मोहित होकर 'कौशिक राजा' ने उनसे विवाह का प्रस्ताव रखा तो अक्का ने प्रस्ताव को इन्कार कर कहा था 'मेरी शादी तो बहुत पहले 'शिव' के साथ हो चुकी है।' मजबूरी में जब महादेवी विवाह के लिए राजी हो जाती है तो वह शिव से कहती है ''इस लोक में अकेली स्त्री का जीवन दुष्कर है, स्त्री को अपनी सुरक्षा के लिए पुरुष की शरण में जाना ही होगा। हताश होकर विवाह के बंधन में बंधने जा रही हूँ! क्या तुम यही चाहते हो कि मैं तुम्हें भूल जाऊँ 'मल्लिकार्जुन।'[1] इन यातनाओं से मैं डरने वाली नहीं हूँ, ना मैं पगली हूँ न मैं भटकी हुई भक्तिनी, मेरा लक्ष्य तो सिर्फ तुम्हें प्राप्त करना है। तुम ही मेरी श्वास हो, तुम्ही मेरे प्राण मल्लिकार्जुन।''[2]

परंतु राजा ने धमकाया कि यदि तुमने शादी नहीं की तो तुम्हारे माता पिता को मार डालूंगा। 'अक्का' मजबूरी में राजा से शादी कर लेती है, लेकिन शारीरिक रूप से राजा को दूर ही रखती है। लेकिन राजा बार-बार अनेक प्रयासों के द्वारा महादेवी को प्राप्त करना चाहता है तो महादेवी कहती है- ''बस कीजिए अपना प्रेमलाप, मेरी चिंता में जो समय व्यर्थ कर रहे हो, उसे शिव के ध्यान में लगाते तो, जीवन पावन हो जाता।''[3] विवाह के उपरांत जब महादेवी राजमहल में पहुँचती है तब स्वागत में बिछे फूलों को देखकर इस प्रकार कहती है- ''इन फूलों को जमीन पर इस तरह बिछाने से अच्छा होता, शिव के चरणों में अर्पण कर देते, तो इन फूलों का जन्म भी सार्थक हो जाता।''[4] अंत में हर प्रयास में असफल होने के बाद अपनी वैवाहिक व्यथा को राजा ने दरबार में रखा, लेकिन भरे राज दरबार में 'अक्का' ने 'शिव' को ही अपना पति माना। इस बात से क्रोधित होकर राजा ने अक्का को महल से निकाल दिया। जब राजमहल छोड़कर महादेवी जाने लगती है तब राजा कहता है जो वस्त्र पहने हैं वे भी मेरे हैं। तब महादेवी कहती है- ''तुम्हारी धन-दौलत तुम्हें मुबारक! मेरे शरीर पर वस्त्र हो या न हो मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं शरीर नहीं, अजर-अमर आत्मा हूँ। मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता कि मेरे बारे में कौन क्या सोचता है और बोलता है! दुनिया की निंदा-स्तुति से मुझे कोई लेना-देना नहीं है।''[5] उसी सभा में निर्वस्त्र होकर अपने केशों को खोलकर वह शिव की खोज में चल पड़ती है। महादेवी के इन शब्दों से उनकी अनन्य शिव भक्ति की पराकाष्ठा का पता चलता है।

पुरुष प्रधान समाज में बारहवीं सदी में एक स्त्री अपने आप को निर्वस्त्र कर, राज्य की सारी सुख संपदा को त्यागकर, अपने बालों को ही अपना वस्त्र बनाकर चेनमल्लिकार्जुन की खोज में निकल पड़ती है । अक्कमहादेवी ने ऐसा निर्णय उस समय भरी राज्य सभा में लिया था जब भारत में स्त्रियों का घर से निकलकर पूजा-पाठ करना भी बिल्कुल वर्जित था। केवल अठारह-उन्नीस साल की स्त्री ने ऐसा धैर्य, साहस, प्रस्तुत कर समाज की रीति-नीतियों की बेड़ियों को तोड़कर, आडंबरों को कुचलकर, आगे बढ़ने का साहस कर्नाटक की 'महान महिला संत ने दिखाया था। 'अक्कमहादेवी' चेनमल्लिकार्जुन 'शिव' से इतना

अलौकिक प्रेम करती थी कि वह हर रोज शिव जी से यही प्रार्थना करती थी कि ''हे शिव, मुझे आज भोजन न मिले। मैं चाहती हूँ कि आपका अंश बनने के लिए मैं जिस तड़प और पीड़ा से गुजर रही हूँ, वह मेरे शरीर से भी जाहिर हो। अगर मैं भोजन कर लूंगी तो मेरा शरीर संतुष्ट हो जाएगा। मेरा शरीर नहीं समझता है कि मैं कैसा महसूस कर रही हूँ। इसलिए मैं चाहती हूँ कि मुझे भोजन ही न मिले। अगर मेरे हाथ में भोजन आए भी तो इससे पहले कि मैं उसे खाऊँ, वह जमीन पर गिर जाए। अगर यह जमीन पर गिर गया तो मेरे जैसी मूर्ख उसे उठाकर खा सकती है इसलिए इससे पहले कि गिरे हुए भोजन को मैं उठाकर खाऊँ, कोई कुत्ता आए और उसे ले जाए।''[6] भिक्षा मांगते हुए जब महादेवी गाँव में जाती है तो सुंदर नग्न काया को देखकर एक तरुण मोहित होकर महादेवी से कहता है कि ''तुम्हारे गले में न तो मंगलसूत्र है, तब तो तुम्हारी शादी भी नहीं हुई है और ना तुम्हारा कोई पति है, तब मैं तुमसे मोह रखता हूँ तो कौन सा पाप करता हूँ।''[7] महादेवी तरुण युवक को इस तरह समझाती है ''भैया मेरे भरे यौवन को देखकर जो तुम मुझ पर मोहित हुए हो, मैं स्त्री नहीं हूँ, यह मेरा शरीर केवल स्त्री हैं। मैं परपुरुषों से ललचाने वाली वेश्या भी नहीं हूँ। मैं सम्पूर्ण रूप से शिव (चेनमल्लिकार्जुन) की पत्नी हूँ। इस मन में सिर्फ शिव को स्थान है अतः कामवासना का वहाँ क्या स्थान।''[8] 'अक्कमहादेवी' न केवल लिंगायत धर्म बल्कि विश्व संत परंपरा का सर्वश्रेष्ठ शिखर मानी जाती है, वे सर्वश्रेष्ठ शिव योगिनी थी, भक्ति साधना में मधुरभक्ति थी, शक्ति साधना में महाशक्ति थी। कर्नाटक के विश्वगुरु, विश्वविभूति, विश्ववंद्य, विश्वकीर्तिमान, समतानायक, महान संत, जगतज्योति महात्मा बसवेश्वर, अन्ना बसवन्ना, ने 'अक्कमहादेवी' के ज्ञान को, वैराग्य को, शिवभक्ति को मान-सम्मान देते हुए 'अनुभव मंडप' में स्थान दिया था। यह कोई साधारण बात नहीं है। जब समाज जाति-प्रथा में बंट गया था, उच्च-नीच की प्रताड़ना चरम सीमा पर थी, स्त्री को चारदीवारी में कैद रखा हुआ था, पुरुष प्रधान समाज का बोल-बाला था, यह उस समय की बात है जिसकी हम कल्पना भी शायद नहीं कर सकते हैं।

अक्कमहादेवी एक गहन प्रभावी विचारों की सागर हैं, ज्ञान की गागर हैं, उनके वचनों में अद्भुत गहराई है, अद्वितीय वैचारिक देवत्व है, समकालीन समाज की झांकी है, स्थिति-परिस्थिति की झलक है, शब्दों में गरिमा है, उत्कृष्ट विचारधारा है, इसीलिए तो अक्का की उत्कृष्ट बुद्धिमत्ता के आगे बड़े -बड़े विद्वान भी नतमस्तक होते हैं। उनकी श्रेष्ठ, अप्रतिम शिव भक्ति के आगे सारा स्त्री संसार ही नहीं अपितु सारा विश्व श्रद्धा-भक्ति से शीश नवाता है। बारहवीं सदी में 'अक्का' महिलाओं में स्वाभिमान जगाकर एक श्रेष्ठ योद्धा बन जाती है, वे कहती हैं ''वीरता के कार्य करते हुए, मैं हमेशा वीर वेश में तैयार रहती हूँ। 'अक्का' अपने वचनों के माध्यम से विशेषकर स्त्रियों को धैर्य देकर कहती है कि सुख-दुःख, आशा-निराशा, निंदा-प्रशंसा जीवन का प्रमुख हिस्सा है और जीवन एक ऐसा संग्राम है जहाँ संघर्ष करना अनिवार्य होता है, हमें जीवन में आने वाले हर एक संघर्षों का प्रभावी ढंग से सामना करना चाहिए, तभी हम इस जीवन रूपी नाव को पार लगा सकते हैं। ''पहाड़ के ऊपर घर बनाया तो जंगली जानवरों से क्या डरना? समुद्र के तट पर घर बनाया तो फेनों और लहरों से क्या डरना? बाजार के भीतर घर बनाया तो कोलाहल से क्या डरना? हे मल्लिकार्जुन देव प्रभु सुन इस संसार में जन्म लेकर आने के बाद स्तुति निंदा सुन कर क्रोध ना करके शांत रहना चाहिए।''[9] अक्कमहादेवी के 'वचन' आध्यात्मिक, सामाजिक-वैज्ञानिक ज्ञान की अंतिम सीमाएँ हैं। इनके 'वचनों' में आध्यात्मिक भक्ति का मधुर रस है, नारी शक्ति है, अलौकिक सौंदर्य का समागम है, माधुर्य है, आत्मा को गति देने वाली भाषा है, हृदय में स्पंदित होने वाली कविता है, भक्ति और प्रेम का सुंदर मेल है, अज्ञान, अंधविश्वास, कर्मकांड, जातिवाद, लैंगिक भेदभाव और विषमता का तिरस्कार है।

'अक्कमहादेवी' की 'शिव' के प्रति श्रेष्ठ भक्ति को देखकर, महात्मा बसवन्ना द्रवित होकर इस प्रकार प्रशंसा करते हैं- ''प्रभुदेव, अक्का महादेवी के दिव्य तेजोमय रूप को देखें। काया की लाज को भूलकर, वह जीवन से ललचाती नहीं है। मन की स्मृति को जलाकर, संसार के विषयों का उसने त्याग कर दिया है। कुडलसंगमदेव ये मेरी 'माता महादेवी जननी' हैं।''[10] इस प्रकार महात्मा बसवन्ना ने अक्कमहादेवी को अपनी माता के रूप में गौरवान्वित किया है। ज्ञान के समक्ष उम्र छोटी लगती है तभी महान संत बसवन्ना अक्का को 'माता/जननी' संबोधित करते हैं। महादेवी जब 'अनुभव मंडप' में पहली बार विभूति और केशों से ढकी नग्न शरीर के साथ पहुँची तो सभा में हड़कंप मच गया था। जब महादेवी कर्नाटक के कल्याण की ओर संतों के दिव्य सानिध्य की प्राप्ति के लिए चल पड़ती हैं तो 'अनुभव मंडप' में महादेवी शिव भक्तिनी हैं या नहीं, वैरागिनी हैं या नहीं? परीक्षा लेने के लिए अति सुंदर युवक संत 'किन्नर भ्रमय्या' को भेजा जाता है। ''महादेवी तेरे इस अति सुंदर रूप को देखकर, मेरी दृष्टि सिर्फ तेरे इस मदमाते यौवन से हटती ही नहीं है। अब मुझे तेरे रूप के सिवा, तेरा वैराग्य, विरक्ति, भक्ति कुछ भी नहीं दिखाई दे रही है। चलो, हम तुम विवाह के बंधन में बंध जाएँ और एक आदर्श दंपति का जीवन व्यतीत करें।''[11]

'किन्नर भ्रमय्या' की बातों को सुनकर महादेवी कहती हैं ''छी! वहीं ... रुक जाओ, खबरदार जो मेरे नजदीक भी आए तो! वेश-भूषा संतों की धरते हो और मन में कामवासना रखते हो।''[12] लेकिन किन्नर भ्रमय्या ने बहुत प्रयास किया, बहुत लालच भी दी, बहुत भ्रम पैदा करने की कोशिश की लेकिन अंत में महादेवी की भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान के समक्ष वे माथा टेक देते हैं। महादेवी के चरणों में गिरकर इस अपराध के लिए क्षमा याचना भी करते हैं। महादेवी के विचार से सारा अनुभव मंडप शिव भक्तिनी के चरणों में नत-मस्तक हो जाता है। जय-जय महादेवीअक्का, ऊघे- ऊघे अक्कमहादेवी से अनुभव मंडप गूंज उठा था। इतना ही नहीं महादेवी को परखने का प्रयास करने हेतु अनुभव-मंडप में अल्लमप्रभु ने कठोर प्रश्नों से कड़ी-से-कड़ी परीक्षा ली और अंत में पूछा था ''जब तुमने आवरण छोड़ ही दिया है तो तन को केशों से क्यों ढके हुई हो? महादेवी ने उत्तर दिया था ''मैं तैयार हूँ प्रभु, मगर आप अभी उस दृश्य के लिए परिपक्व नहीं ''सभा के सारे ज्ञानी जन ही नहीं बल्कि पूरा सभागार महादेवी के आगे नतमस्तक हो गया था। तब महादेवी के वैराग्य और ज्ञान को मान्यता देते हुए बसवन्ना ने 'अक्का'-'अक्कमहादेवी' कहकर सम्मान दिया था। कन्नड़ भाषा का शब्द 'अक्का' हिन्दी में 'दीदी' होता है। तब से महादेव (शिव) की भक्त 'अक्का' अक्कमहादेवी कहलाने लगी। 'अक्का' अपने अलौकिक पति शिव यानी 'चेनमल्लिकार्जुन' के प्रति व्याकुल होकर सम्पूर्ण रूप से अपने आपको समर्पित कर कहती हैं- ''तुमने मुझे कंठ दिया, तुम्हारे गुण गाऊँगी। भेजो मुझे दर-दर हाथ फैलाए भीख मांगने को भूख के लिए गाँव का अन्न, प्यास के लिए नदी, कुएं, सोने के लिए खंडहर, और संग के लिए तुम, मल्लिकार्जुन।''[13] 'अक्का' जानबूझकर अपने शरीर के आवेगों और इच्छाओं को मारने की कोशिश करती हैं और जल्द से जल्द शिव में शिवमय हो जाना चाहती हैं। ''भेजो मुझे दर-दर, हाथ फैलाए भीख मांगने को, और अगर माँगूँ भीख तो मत देने देना उन्हें, और अगर वे दें, तो गिरा देना उसे धरती पर, और अगर वह गिर जाए तो, मेरे उठाने से पहले ले जाने देना उसे कुत्ते को, ओ मल्लिकार्जुन!।''[14] 'अक्का' अलौकिक पति शिव से इस तरह निवेदन करती है ''चार पहर दिन के, मैं तुम्हारे शोक में रहती हूँ, चार पहर रात के, तुम्हारे लिए बौराई पड़ी रहती हूँ, दिन-रात खोई और बीमार ओ मल्लिकार्जुन, जब से पनपा तुम्हारा प्रेम, भूल गई मैं भूख, नींद और प्यास।''[15] अक्का केवल एक साधारण महिला संतों की श्रेणी में न सोचकर अखंड ज्ञान की ओर सोचती है ''एक नहीं, दो नहीं, न तीन या चार, चौरासी लाख योनियों में से मैं निकल कर आई हूँ असंभव

संसारों में से, कभी आनंद पिया, कभी पीड़ा, जो भी थे मेरे पूर्वजन्म, दया करो आज के इस दिन, ओ मल्लिकार्जुन''

'अक्का' लौकिक विवाह के बंधन से अपने आपको मुक्त करने के लिए शिव से निवेदन इस प्रकार करती है ''घर में पति, बाहर प्रेमी, मुझ से नहीं निभते दोनों, ये संसार और दूसरा संसार, मुझ से नहीं निभते दोनों, ओ मल्लिकार्जुन, मुझ से नहीं बन पड़ता, पकड़े रहूँ एक हाथ में बेल फल, दूसरे में धनुष।''[16] ''हे भूख! मत मचल, प्यास तड़प मत, हे नींद! मत सता, क्रोध! मचा मत उथल-पुथल! हे मोह! पाश अपने कर ढीले कर, लोभ! मत ललचा मुझे, हे मद! मत कर मदहोश, हे ईर्ष्या! जला मत मुझे, ओ चराचर! मत चूक अवसर, आई हूँ संदेश लेकर, चेनमल्लिकार्जुन का।''[17] इस वचन में महादेवी ने भूख, प्यास, क्रोध-मोह, लोभ-मद, ईर्ष्या पर नियंत्रण रखने और भगवान शिव का ध्यान करने की प्रेरणा दी है। 'अक्कमहादेवी' संसार और सांसारिक हर वस्तुओं को मिथ्या मानती हैं और अविनाशी शिव को ही केवल सत्य मानती हैं। वह अपनी माँ से कहती है कि केवल शिव ही मेरे पति हैं और दूसरा कोई नहीं, ''वह सुंदर मेरा प्रेम, न उसे मृत्यु, न जरा, न आकार, न स्थान, न दिशा, न अंत, न जन्मचिह्न, वही मेरा प्रेम, सुन री, ओ माँ।''[18] उस समय में स्त्रियों को संत बनाने का अधिकार धर्मशास्त्र और पुरुष प्रधान समाज ने नहीं दिया था। लेकिन अक्का निर्भयता के साथ कहती हैं कि ''संसार के कुछ भी करने पर मैं डरने वाली नहीं हूँ। मैं सूखे पत्ते चबाकर रहूंगी। छुरी की धार पर सोऊंगी। तुम मेरा हाथ छोड़कर भाग जाओ तो अपना शरीर एवं प्राण तुमको सौंपकर रहूंगी चेनमल्लिकार्जुन।''

''अक्का ने ही सच्चे अर्थों में संपूर्ण वचन आंदोलन का प्रतिनिधित्व किया है जो वर्तमान समय तक मौजूद है, उन्हें बसवन्ना की भक्ति, अल्लमप्रभुदेव की पारलौकिक बुद्धि और चेन्न बसवन्ना की सर्वोत्कृष्टता और सिद्धारमय्या का कार्य दर्शन विरासत में मिला था। 'अक्का' के जीवन में वास्तविकता थी, विचारों में भव्यता निहित थी, उनके जीवन के प्रत्येक चरण में 'नारीत्व' की, बल्कि मानव जाति की मुक्ति का संदेश निहित है। समाज में सदियों पुराने मानदंडों से अक्का ने लड़ने का साहस दिखाया था। इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं है कि अक्का प्रबुद्ध तथा दिव्य जीवन के लिए जीती रही। अक्का कहती है कि ''मुझे जाति का अभिमान नहीं है, संकल्प के अभिमान के बिना मैं हूँ। मैंने धन का अहंकार दूर कर दिया है, सीखने के गर्व में से भी मेरे पास कोई नहीं है। अभिमान का कोई शिष्टाचार मेरे पास आने की हिम्मत नहीं करता, क्योंकि तूने मुझे अपनी कृपा से आशीष दिया है 'चेनमल्लिकार्जुन'।''[19]

निष्कर्ष- आभा मण्डल के सहस्र उज्ज्वल नक्षत्रों में दीप्तिमान प्रकाश स्तम्भ की तरह, अप्रतिम शिव भक्त अक्कमहादेवी के वचन सदा अंधकार में मार्गदर्शन करते रहेंगे। कर्नाटक की विरासत में, संत परंपराओं में, शैव संप्रदाय में, कन्नड़ साहित्य जगत में, बल्कि यूँ कहें कि संपूर्ण विश्व की उत्कृष्ट संत साहित्य संपदा में, 'अक्का' का नाम अजर-अमर रहेगा। 'अक्कमहादेवी' के 'वचन' आज केवल कन्नड़ भाषा तक सीमित न रहकर भारत की विविध भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। बल्कि यूँ कहें कि अक्का के 'वचन' विश्व भाषा की धरोहर बन चुके हैं तो इसमें अन्य कोई मत न होगा।

इस प्रकार उत्तर भारत में 14वीं शताब्दी में 'मीराबाई' ने, कश्मीर में 'ललद्य' ने, आठवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के तमिलनाडु की 'आंडाल' ने, बारहवीं शताब्दी में कर्नाटक की अक्कमहादेवी ने समकालीन अवरुद्ध वातावरण में न केवल भक्ति की अलख जगाई थी बल्कि नारी शक्ति को भी संकेंद्रित करने का प्रयास किया है।

कर्नाटक की 'अक्कमहादेवी' ने समकालीन समाज के नारी-विरोधी बनावटी धर्म और आस्था की मान्यताओं का तिरस्कार किया और डटकर विरोध ही नहीं किया बल्कि साक्षात अपने जीवन द्वारा उसका सटीक प्रमाण भी दिया है। 'अक्कमहादेवी' का जीवन शायद आज की आधुनिक दुनिया की समझ से परे है! 'अक्का' स्त्री जाति के लिए प्रेरणा का स्रोत थी, है और रहेंगी इसमें कोई अन्य राय नहीं है। धन्य है भारत का 'कर्नाटक' राज्य जहाँ अक्कमहादेवी जैसी 'दिव्य विभूति' ने अवतरित होकर इस राज्य का मान बढ़ाया है। धन्य हैं वे सभी जन जो 'अक्का' के पावन वचनों का तीर्थ रूपी पान कर पारमार्थिक लाभ प्राप्त कर रहे हैं। मैं भी अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि 'अक्कमहादेवी' कर्नाटक राज्य महिला विश्वविद्यालय में अक्कमहादेवी जैसी दिव्य, परम पावन विभूति पर कुछ कहने का मौका मिला।

संदर्भ-

1. जगद्गुरु माते महादेवी -तरंगिणी, विश्व कल्याण बसव़ मंडप, बेंगलुरू, पृष्ठ-288
2. वही - पृष्ठ-289
3. वही - पृष्ठ-276
4. वही - पृष्ठ-259
5. वही - पृष्ठ -511
6. वही - पृष्ठ -525
7. वही -पृष्ठ-573
8. वही - पृष्ठ-573
9. कदलीय कर्पूर-डी. वी. मूर्ति-वाणी प्रेस, मैसुर पृष्ठ -224
10. जगद्गुरु माते महादेवी -तरंगिणी, विश्व कल्याण बसव मंडप बेंगलुरु, पृष्ठ -646
11. वही - पृष्ठ-626
12. वही - पृष्ठ-626
13. कदलीय कर्पूर-डी. वी. मूर्ति-वाणी प्रेस, मैसुर, पृष्ठ -146
14. वही - पृष्ठ -117
15. वही, पृष्ठ- 119
16. जगद्गुरु माते महादेवी -तरंगिणी, विश्व कल्याण बसव मंडप बेंगलुरु पृष्ठ-525
17. कदलीय कर्पूर-डी. वी. मूर्ति-वाणी प्रेस, मैसूर, पृष्ठ 118
18. वही - पुष्ठ 61
19. वही - पुष्ठ 117
20. ए. के. रामानुजन एवं विनय चैतन्य के अंग्रेजी अनुवाद- भावान्तरण : गगन गिल
21. कन्नड साहित्य संजीवनी -शिवशरण मोतकपल्ली - मोतकपल्ली प्रकाशन गुलबर्गा-2016
22. मध्यकालीन हिन्दी काव्य संकलन- डॉ. राजेन्द्र पोवार -सुमित्र प्रकाशन -2022
23. कर्नाटक में हिन्दी की दिशा -दशा और विविध विमर्श - डॉ. चंद्रशेखर अड़की -अधिकरण प्रकाशन नई दिल्ली -2020
24. के. ललित : वुमेन राइटिंग इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी -नई दिल्ली -1999
25. भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश- रामविलास शर्मा, किताबघर प्रकाशन- 1999

हिन्दी -विभागाध्यक्ष
विद्यावर्धक कला वाणिज्य एवं बी.सी.ए महाविद्यालय,
विजयपुर (कर्नाटक)-586101
मो.-8277555220 ईमेल-drssyyvv@gmail.com

मीरा को समझने के लिए किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री की जरूरत नहीं है, क्योंकि मीरा के पास कोई डिग्री नहीं थी। उसे समझने के लिए बस मीरा-भाव और मीरा जैसी भावदशा चाहिये।

- आचार्य रजनीश

पंजाब के सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण में निर्मला पंथ का योगदान

(1) डॉ. हरजिन्दर सिंह
(2) प्रो. चन्द्रकान्त सिंह

भारतीय समाज एवं संस्कृति के निर्माण में धर्म की अहम् भूमिका रही है। धर्म यहाँ की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन करता रहा है। भारत में रहने वाले विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों ने अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप धार्मिक नियमों की व्यवस्थित संहिता तैयार की, परिणामतः वेदांतिक और गैर-वेदांतिक धर्म-पंथ सामने आए। इस तरह विभिन्न धर्मों के प्रचार-प्रसार के लिए विविध उपसंस्थाओं का निर्माण भी हुआ। इन प्रयासों से न केवल सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन व्यवहार को दर्शाने वाले ग्रंथ प्रकट हुए, बल्कि इन ग्रंथों की व्याख्या का शास्त्रोक्त दृष्टिकोण भी अस्तित्व में आया। समकालीन भारतीय समाज-संस्कृति में धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए अनेक संप्रदाय एवं पंथ सक्रिय हैं। इनमें निर्मला पंथ अत्यंत महत्वपूर्ण संप्रदाय है जो सिक्ख धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या के साथ-साथ पंजाब के सांस्कृतिक निर्माण के लिए भी अनथक प्रयास कर रहा है। इस संप्रदाय से जुड़े हुए निर्मल संत धार्मिक ग्रंथों की दार्शनिक व्याख्या करने के साथ संपूर्ण मानवता के कल्याणार्थ भी स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं।

प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य लक्ष्य निर्मला पंथ के उद्भव एवं विकास के साथ-साथ पंजाब के समाजगत विकास में इसके योगदान को चिह्नित करना है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से स्पष्ट है कि जिस समय श्री गुरुगोबिंद सिंह जी ने निर्मला पंथ स्थापित करने की योजना बनायी, उस समय तत्कालीन सत्ता विमर्शकारों ने शिक्षा को आम लोगों से हटाकर विशेष वर्ग तक परिसीमित कर दिया था। यही कारण है कि गुरु गोबिंदसिंह ने सिक्खों की बौद्धिकता को बढ़ाने के लिए शस्त्र विद्या के साथ-साथ शास्त्र विद्या को भी आवश्यक समझा। निर्मला पंथ की स्थापना के साथ एक महत्वपूर्ण तथ्य यह सामने आता है कि उस समय आम लोगों का ज्ञान नगण्य था। गुरु साहिब सिक्खों में शैक्षिक रुचि पैदा करने के इच्छुक थे जिससे कि साधारण जनता में असुरक्षा-बोध एवं एकाकीपन की भावना को सदा के लिए विनष्ट किया जा सके। दशगुरु परम्परा के सभी गुरु साहित्य एवं धर्म को जीवन का महत्वपूर्ण आधार समझते हैं। साहित्य- सृजन के साथ गुरु साहिब स्वयं दरबार में 52 साहित्यिक रचनाकारों के मार्गदर्शक थे जो उनकी तत्व-बोधि दृष्टि को दिखाने के साथ यह भी दर्शाता है कि वे साधारण जनता को सशक्त एवं प्रबुद्ध देखना चाहते थे। सिक्ख धर्म से संबंधित इस संप्रदाय की उत्पत्ति के बारे में दो मत दिखाई पड़ते हैं। कुछ प्रबुद्ध आलोचक इस संप्रदाय को गुरु नानकदेव जी से जोड़ते हैं। रतनसिंह जग्गी अपनी पुस्तक 'गुरु ग्रंथ विश्वकोश' में स्पष्ट लिखते हैं कि- ''निर्मल पंथ प्रदीपिका, निर्मल भूषण, निर्मल पंथ-दर्शन आदि साम्प्रदायिक पुस्तकों में गुरुनानक-बाणी और भाई गुरदास-बाणी (मारिया सिक्का जगत विच, नानक निर्मल पंथ चलाया) के श्लोकों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि गुरु नानकदेव के समय से निर्मल-संप्रदाय अस्तित्व में आया था।''[1] ऐतिहासिक स्रोतों के गंभीर अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ऐसी धारणाएँ संभवतः श्रद्धा-भाव के कारण वैज्ञानिक एवं तार्किक कम होती हैं और विश्वास पर अधिक अवलंबित होती हैं। खैर, जो भी हो ऐतिहासिक साक्ष्यों के पठन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि निर्मला

पंथ श्री गुरु गोबिंदसिंहजी के सार्थक प्रयास से सामने आया। गुरु साहिब के द्वारा निर्मला पंथ स्थापित करने की पृष्ठभूमि में गुरुमत प्रचार का महत्वपूर्ण लक्ष्य भी दृष्टिगत होता है जिसे प्रथम गुरु गुरु नानकदेवजी ने उदासियों के माध्यम से आरंभ किया था। इस संदर्भ में डॉ. सुरजीत भट्टी जी का मंतव्य देखने योग्य है। उन्होंने निर्मला पंथ की अभिरचना एवं उद्देश्य पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है कि- ''गुरु साहिब चाहते थे कि सिक्ख विद्वान सभी भारतीय आध्यात्मिक और अन्य प्रकार की शिक्षाओं से परिचित हों। ... .लेकिन उस समय के हिंदू शिक्षा केंद्र, विशेषकर काशी में, गैर-ब्राह्मणों को वेद-शिक्षा नहीं देते थे। गुरु साहिब ने ब्रह्मचर्य की आड़ में पांच सिक्खों को संस्कृत शिक्षा के लिए काशी भेजा। ये पांचों सिक्ख संस्कृत ग्रंथों के पूर्ण विद्वान बन गए और उस प्रतिष्ठा-भूमि से उन्होंने गुरबाणी की व्याख्या शुरू की। बाद में उन्होंने कई सिक्खों को संस्कृत की व्याख्या सिखाई और इस तरह निर्मला पंथ सिक्ख पंथ का हिस्सा बन गया।''[2] उपर्युक्त उद्धरण दर्शाता है कि गुरु गोबिंदसिंहजी दूरदर्शी थे। उन्होंने निर्मला पंथ की स्थापना के द्वारा तमस में अवसाद में रह रहे भारतीय नर-सिंहों को जगाने का काम किया। निर्मला-पंथ एक महत्वपूर्ण आदर्श स्थापित करता है। इसे ज्ञान की अमोघ लीला-विस्तार के साथ बाहर-भीतर एकमेव हो जाने वाली देशना के रूप में देखना-समझना होगा। निर्मला पंथ की स्थापना और गुरु साहिब के अनथक प्रयास के संदर्भ में डॉ. सुरिंदर सिंह कोहली के विचार देखने योग्य हैं। निर्मला-पंथ की प्रमुख प्रवृत्तियों पर लिखते हुए वह कहते हैं कि- ''1685 ई. में गुरुजी ने पाँच चुने हुए विद्वान सिक्खों को संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए काशी भेजे ताकि वे संस्कृत सीख सकें और गुरमत के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके भारतीय साहित्य और सिक्ख धर्म के अद्वितीय पहलुओं को समझ सकें।''[3]

डॉ. रतनसिंह जग्गी के अनुसार गुरु गोबिंदसिंह ने सिक्खों के सांस्कृतिक आधार को दृढ़ करने के लिए 1686 ई. में 'ब्रह्मचारी भेख' में संस्कृत का अध्ययन करने के लिए पाँच सिक्खों (रामसिंह, करमसिंह, गंडासिंह, सोभासिंह और नामंतर सेनासिंह) को बनारस (काशी) भेजा।[4] इन स्रोतों के अतिरिक्त कई अन्य साहित्यिक स्रोत भी हैं जो निर्मल संतों के अस्तित्व का केवल नामोल्लेख करते हैं कि इस संप्रदाय की स्थापना गुरु गोबिंदसिंहजी ने की थी। किंतु इसके उद्भव एवं विकास के संदर्भ में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। डॉ. जोगिंदरसिंहजी निर्मल-संतों को उपदेशदेष्टा शिष्य के रूप में देखते हैं जो गुरु के संदेशों को सामान्यजन तक ले जाने का काम करते थे। यही नहीं उन्होंने ज्ञान की नगरी काशी में तात्विक ज्ञान अर्जित कर उसे सच्चे अर्थों में समाज को लौटाने का काम किया, इस तरह उनकी देन अनूठी है। इस संदर्भ में उनके विचार देखने योग्य हैं- ''गुरु गोबिंदसिंहजी ने महाराज के भाई रामसिंह, करमसिंह, गंडासिंह, वीरसिंह और शोभासिंह जी को काशी में संस्कृत विद्या का अध्ययन करने के लिए भेजा। यह निर्मला शब्द खालसा शब्द का संस्कृत रूपांतरण है। भविष्य में, जो कोई भी उनके अधीन अध्ययन करता था और फिर धर्म का प्रचार करना शुरू करता था, वह निर्मल बन जाता था। इस प्रकार प्रचारकों के इस समूह को निर्मला के नाम से जाना जाने लगा।''[5]

निर्मला पंथ के उदय की चर्चा करते हुए प्रीतमसिंहजी ने ज्ञानी ज्ञानसिंह की अमर कृति 'निर्मल पंथ प्रदीपिका' (1891 ई.) को बाद के स्रोत के रूप में उद्घाटित किया है। वे अभिलिखित करते हैं कि इससे पूर्व किसी भी गुरुमुखी स्रोत में निर्मल पंथ के प्रारंभ के विषय में आवश्यक जानकारी नहीं मिलती।

उनके अनुसार, पौंटा निवास के समय, 1686 ई. में गुरु गोबिंद सिंह ने पांच सिक्खों करम सिंह, गंडा सिंह, राम सिंह, सैना सिंह और वीर सिंह को संस्कृत की शिक्षा हेतु काशी भेजा था।[6] ज्ञानी ज्ञान सिंह की इस रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि खालसा पंथ की स्थापना (1699 ई.) के सतरह वर्ष पूर्व 1686 ई. को सिक्खों के इस महनीय संप्रदाय की स्थापना हुई। इस तरह निर्मला पंथ भारतीय ज्ञान परंपरा के अनुरूप गुरु-बानी की व्याख्या करने वाला महत्वपूर्ण पंथ है जिसने लोगों के आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ उनके सांस्कृतिक एवं चारित्रिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने का कार्य किया।

निर्मला पंथ ने भारत और पंजाब के सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण में अद्वितीय कार्य किया है। निर्मला पंथ के डेरों में सिक्ख धर्म से संबंधित अनेक ग्रंथ मिलते हैं। निर्मला पंथ भारतीय ज्ञान-परंपरा की निरंतरता में सिक्ख दर्शन की दार्शनिक अवधारणाओं की समुचित व्याख्या करता है। निर्मला पंथ के प्रचार अभिकरणों को डेरा कहा जाता है। भारतीय सामाजिक-संस्कृति में निर्मला पंथ के डेरों की विशिष्टता इस बात में है कि ये डेरे भारतीय ज्ञान-दर्शन और सिक्ख-दर्शन के बीच महत्वपूर्ण सेतु का कार्य करते हैं। इन डेरों से जुड़े हुए संतों का भारत से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक गुरुबाणी, साहित्य के प्रचार-प्रसार और व्याख्या की दृष्टि से योगदान है। निर्मला पंथ ने अन्य सभी सम्प्रदायों की अपेक्षा सिख देशना के अनुरूप उदात्त साहित्य-सृजन किया है। निर्मलों ने जहाँ भारतीय दार्शनिक ग्रंथों का सरल भाषा में अनुवाद किया, वहीं गुरु ग्रंथ साहिब और गुरुमत संकल्प के श्लोकों की सम्यक् व्याख्या करके भारतीय दार्शनिक वैभव को बढ़ाया है। निर्मल संतों को इस बात का आभास था कि गुरबाणी की गहरी अवधारणाओं को समझाए बिना आम जनता के लिए इसे समझना दुष्कर कार्य है। सुरजीतसिंह भट्टी, 'सिक्ख विचार : परंपरा और परिवर्तन' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि- ''गुरुबानी, हालांकि स्थानीय भाषा में लिखी गई थी, जो 'ब्रहम-विचार' होने के कारण हर आम आदमी की बौद्धिक क्षमता से कहीं परे थी। इस अंतरंग 'दिव्य ज्ञान' को जनसाधारण की चेतना का अंग बनाने के लिए इसकी व्याख्या करना प्रथम ऐतिहासिक आवश्यकता थी।''[7] निस्संदेह गुरु प्रवर्तित ज्ञान को सुगम बनाकर घर-घर पहुँचाने की दृष्टि से निर्मल संतों का अपूर्व योगदान है। उनके शिविरों में यह कार्य आज भी निर्बाध रूप से जारी है। वर्तमान ज्ञान-विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को बुद्धिवादी बना दिया है, वहीं मनुष्य कई स्तरों पर संकीर्णता का शिकार भी हुआ है। यही कारण है कि उसने 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' जैसी धारणाओं को त्याग कर भोगवादी प्रवृत्ति को धारण किया है, जिसके कारण मानव दुःख भोग रहा है। अनेक विद्वान भी ऐसी संकीर्ण भावना से अछूते नहीं रहे हैं। यही कारण है कि वे निर्मला पंथ को अवतारवाद से जोड़ते हैं जो सर्वथा भ्रामक है। इस अवधारणा को पुनः विश्लेषित करने की आवश्यकता है।

निर्मला पंथ के संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि निर्मलों की आस्था सिक्ख और भारतीय ज्ञान परंपरा के साथ-साथ चलती है क्योंकि जब गुरु गोबिंदसिंह ने निर्मलों को संस्कृत सीखने बनारस भेजा था, तो वहाँ हिंदू धर्म का आधिक्य था। उस समय सगुण और निर्गुण भक्ति-धारा के प्रमाण मिलते हैं। काशी के समाज में हिंदू धर्म से जुड़े हुए लोगों की अधिकता के कारण निर्मल संत हिंदू लोगों के बीच सतत उपदेश देते रहे और अपना पवित्र संदेश फैलाते रहे। इसी कारण विद्वानों ने निर्मल संतों को वैदिक परम्परा से जोड़ा है। इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि निर्मलों से पहले सिक्ख दर्शन का भारतीय ज्ञान या वैदिक

ज्ञान परंपरा से कोई संबंध नहीं था। 'संस्कृति दे चार अध्याय' नामक पुस्तक के लेखक लिखते हैं- ''हालांकि गुरु नानक और अन्य गुरुओं ने लगातार भक्ति पर जोर दिया, फिर भी सिक्ख संप्रदाय ने कभी भी साकार उपासना का विरोध नहीं किया।''[8] मानव निर्मित कोई भी अनुशासन ऐसा नहीं है जो किसी न किसी रूप में अन्य संस्थाओं से संबंधित न हो। सरबजिंदर सिंह जी ने 'व्याख्या शास्त्र और सिक्ख व्याख्याकारी' नामक पुस्तक में लिखा है कि- ''प्रत्येक धर्म का अपना आंतरिक दृष्टिकोण होता है जो उसकी आध्यात्मिक मान्यताओं पर आधारित होता है। लेकिन इसके अलावा, धर्म के अध्ययन का एक बहिर्मुखी दृष्टिकोण भी है... लेकिन इन सवालों का जवाब पूरी तरह से बहिर्मुखी सामाजिक व्यवहार के आधार पर नहीं दिया जा सकता है, बल्कि केवल मानव समुदायों के सामूहिक अचेतन के संदर्भ में दिया जा सकता है।''[9] निर्मल संतों के ज्ञान की गति भारतीय समाज की कई परंपराओं को नए सिरे से परिभाषित करती हुई आ रही है। इन संतों ने हिंदू धर्म के प्रसिद्ध विद्वानों के साथ धर्मशास्त्रीय संवाद करके अपने ज्ञान का उत्कृष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया है। निर्मला संतों ने संवाद के रूप में अस्तित्व में आई इन चर्चाओं को 'शास्त्रार्थ' की संज्ञा दी है।

निर्मला संतों के आरंभिक दिन अधिक मेहनत वाले रहे हैं। ये संत बाणी के प्रचार-प्रसार के लिए दूसरे संप्रदायों के स्थानों पर जाते थे और सनातनी बाने में अन्य साधुओं के लंगर से भोजन एकत्रित कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयासरत रहते थे। निर्मल सरल एवं सहज स्वभाव वाले संत हैं। उनकी सहज और सरल जीवन-शैली के कारण लोगों के बीच उनकी लोकप्रियता बढ़ती चली गई। वे हर परिस्थिति में आम लोगों के संपर्क में आकर अपने लक्ष्य के अनुरूप गुरुबानी और संस्कृत विद्या देते रहे। निर्मलों की लोकप्रियता का एक कारण यह भी माना जा सकता है कि उस समय शिक्षा पर नियंत्रण रखने वाले दल गैर-ब्राह्मण वर्गों को शिक्षा नहीं देते थे। इस कारण निर्मला संतों ने आम लोगों में शिक्षा के प्रति प्रेम को प्रकट किया। प्यारा सिंह पदम अपनी पुस्तक 'सिक्ख सम्प्रदावली' में उनकी सामाजिक सेवा का विस्तार से उल्लेख करते हैं। उनके द्वारा किए गए सामाजिक सद्भाव पर आधारित कार्यों का उल्लेख करते हुए वह लिखते हैं कि- ''इस कार्य के लिए उन्होंने बहुत प्रयास किये और जहाँ तक संभव हुआ, उन्होंने बनारस, प्रयाग, उज्जैन, हरिद्वार...आदि अनेक स्थानों पर विद्यालय चलाये। उन्होंने छात्रों के लिए भोजन की भी व्यवस्था की और मुफ्त किताबें, कपड़े आदि दिए।''[10] निर्मलों के समर्पण के कारण लोगों ने उन्हें डेरों और पाठशालाओं के लिए अपनी जमीनें दीं। डेरों के निर्माण और स्कूलों की स्थापना के साथ निर्मला पंथ ने सामाजिक और सांस्कृतिक निर्माण के कार्य को अधिक गंभीरता से किया।

निर्मला पंथ की शैक्षिक प्रक्रिया में पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ सांसारिक ज्ञान भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण था। विद्यार्थियों को पंथ की दीक्षा के साथ लोगों के साथ व्यवहार करना, समाज में उठने-बैठने जैसे महत्वपूर्ण संस्कार देने का कार्य गुरु के द्वारा सम्पादित होता था। अभिप्राय यह है कि निर्मला संत गुरुबानी के प्रचार के साथ ही मानव समाज एवं संस्कृति के पुनर्विश्लेषण करने का स्तुत्य प्रयास कर रहे थे। सिक्ख धर्म के इस प्रबुद्ध संप्रदाय की कार्यप्रणाली को समझने के लिए भारतीय सामाजिक-संस्कृति को प्रतिबिंबित करने वाले ग्रंथों की व्याख्या एवं विश्लेषण को ज्ञान-मीमांसा का मुख्य आधार बनाना होगा, तभी निर्मलों के अतुल्य योगदान को जाना जा सकता है।

निर्मला सन्तों ने जिन प्रचार डेरों की स्थापना की, उनकों साधु भाषा में अखाड़ा कहा जाता है। इन अखाड़ों या डेरों में आध्यात्मिक गतिविधियों के अतिरिक्त जनकल्याण की कई अन्य गतिविधियाँ संचालित होती रहती हैं। निर्मला संतों ने सामाजिक और सामुदायिक सद्भाव स्थापित करने के लिए छोटे-छोटे गाँवों, कस्बों और नगरों में जाकर गुरुमत ज्ञान देना प्रारंभ किया। इस प्रचारक मण्डली के मुखिया को 'मंडलेश्वर' कहा जाता है और उसके ऊपर की उपाधि वाले संत को 'महा-मंडलेश्वर' कहा जाता है। ''राग, वाद्य, गायन, व्याख्यान के क्षेत्र में महान संत जहाँ भी गए, वे स्थानीय समुदाय को जोड़ते थे। इससे समाज में समरसता पैदा करने में मदद मिली और लोगों को कई सामाजिक और मानसिक परेशानियों से मुक्ति मिली और उनमें सेवा और प्रेम के गुण प्रकट हुए।''[11] मंडलियों में प्रचार कर रहे इन संतों का समाज-संस्कृति को सुदृढ़ करने का यह अनूठा प्रयास था। इन प्रयासों के माध्यम से निर्मला संतों ने लोगों के बीच सामाजिक और मानसिक भेदभाव को मिटाने के लिए संस्थागत कार्य किया है।

निस्संदेह वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी के बढ़ते हुए हस्तक्षेप ने सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को विरासत में मिले हुए दाय को प्रभावित किया है, लेकिन निर्मलों ने हर छोटे-बड़े क्षेत्र में जाकर सामाजिक-संस्कृति को सकारात्मक दिशा दिखाई है। इन भ्रमणशील उपदेश मंडलियों को 'रमत अखाड़े' कहा जाता है, रमत का अर्थ है पैदल चलने वाले संतों की मंडली। रमत अखाड़ों के संत अपने साथ गुरुग्रंथसाहिब लेकर चलते हैं और चलते-फिरते उपदेश देते हैं। इस प्रचार-प्रसार से जहाँ लोग आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध होते हैं, वहीं सामाजिक-सांस्कृतिक रिश्ते भी मजबूत होते हैं।

भारत जड़ी-बूटियों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध भूमि है। यहाँ की चिकित्सा पद्धतियों को नवीनीकृत कर चिकित्सालयों एवं औषधालयों के द्वारा शारीरिक विकारों का उपचार किया जाता रहा है। निर्मला पंथ ने सनातनी मत के दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन करने के साथ-साथ आयुर्वेद और औषधि के ज्ञान में भी निपुणता प्राप्त की है। निर्मला पंथ के संतों ने लोक-उपचार के कार्यों के द्वारा जनसामान्य के बीच विशेष लोकप्रियता भी अर्जित की है।

वैद्य महंत अमरीकसिंह चिकित्सकीय योगदान पर बात करते हुए कहते हैं कि- ''वर्तमान में जोर-शोर से अधिक उच्च श्रेणी के क्लीनिक, अस्पताल, औषधालय द्वारा निर्मल भेख के संत सेवा करके एक मूल्यवान योगदान दे रहे हैं।''[12] वैदिक प्रणाली या लोक चिकित्सा का पंजाबी समाज और संस्कृति में आदरपूर्ण स्थान रहा है। आज के युग में आम आदमी डॉक्टरों के अतिरिक्त इन वैदिक संतों पर भी आस्था रखता है। लोक चिकित्सा में निर्मल संतों की अद्वितीय उपलब्धियों के परिणामस्वरूप वैदिक और औषधीय ज्ञान से समृद्ध संत बड़ी संख्या में हैं, जिनमें पंडित तारासिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। इस संदर्भ में डॉ. परमवीर सिंह अपनी पुस्तक 'निर्मल पंथ दा समाज नूं बहुपखी योगदान' में स्पष्ट लिखते हैं कि- ''निर्मल भेख का प्रसिद्ध स्थान, सतगुरु के चरण स्पर्श, निर्मल आश्रम खडूर साहिब, ब्रह्म ज्ञानी, नाम सिमरन के धनी, गुरमति, भाषा, वेदांत के पंडित, आदरणीय पंडित तारासिंह जी महाराज राज्यऋषि जो आयुर्वेदिक के अविश्वसनीय विद्वान थे। क्षेत्र में यहाँ इनका नाम सिमरन का प्रभाव था, वहाँ इलाज से लाखों मरीजों को जीवनदान मिला और निःसंतान दंपत्तियों को संतान प्राप्ति का सुख मिला।''[13]

निर्मला पंथ के सामाजिक-सांस्कृतिक योगदान के विषय में कहा जा सकता है कि उनके प्रदेय को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने की आवश्यकता है। निर्मला संतों ने जहाँ गुरुमत के अबाध प्रसार के लिए लोगों में जाग्रति फैलायी वहीं सामाजिक समरसता स्थापित करते हुए जन-जन के ऐक्य पर बल दिया। वे सच्चे अर्थों में भारतीय चेतना के संवाहक थे जिन्होंने लोगों को कायिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक रूप से समृद्ध किया। उन्हें जन-मन के मसीहा के रूप में देखा जा सकता है जो लोगों के कष्टों के निवारणकर्ता बनकर उपस्थित हुए।

इस तरह निर्मला पंथ का अध्ययन करने के पश्चात सारतः कहा जा सकता है कि इस पंथ ने सिक्ख धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अन्य पंथों की तुलना में कहीं अधिक कार्य किया है। इस पंथ को भारतीय ज्ञान परंपरा को आत्मसात करने एवं नवाचार की ओर संतों की अनूठी पहल कहा जा सकता है जिससे कि आम आदमी को शिक्षा और धार्मिक ज्ञान के सुअवसर मिल सकें। इस पंथ द्वारा द्वारा की जा रही सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को पंजाब के सम्यक् निर्माण के संदर्भ में देखने की आवश्यकता है।

संदर्भ-

1. रतनसिंह जग्गी, गुरु ग्रंथ विश्वकोश (भाग- 2), पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2002, पृष्ठ- 195
2. सुरजीतसिंह भट्टी, सिक्ख विचार : परंपरा और परिवर्तन, चेतना प्रकाशन, लुधियाना, 2017, पृष्ठ- 156
3. खोज-पत्रिका, पुरातन वारतक विशेषांक, 2014, पृष्ठ- 361
4. रतनसिंह जग्गी, गुरु ग्रंथ विश्वकोश (भाग- 2), पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2002, पृष्ठ- 195
5. जोगिंदरसिंह, सिक्ख इतिहास, के. जी. प्रकाशन, अमृतसर, 2020, पृष्ठ- 520
6. प्रीतमसिंह, निर्मल सम्प्रदाय, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, 1981, पृष्ठ- 35
7. सुरजीतसिंह भट्टी, सिक्ख विचार : परंपरा और परिवर्तन, चेतना प्रकाशन, लुधियाना, 2017, पृष्ठ- 152
8. धनवंत कौर और इंद्रजीत कौर, संस्कृति दे चार अध्याय, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2014, पृष्ठ- 456
9. सरबजिंदर सिंह, व्याख्या शास्त्र और सिक्ख व्याख्याकारी, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 2017, पृष्ठ- 08
10. प्यारासिंह पदम, सिक्ख सम्प्रदावली, कलगीधर कलम फाउंडेशन, पटियाला, 2000, पृष्ठ- 65
11. निर्मल पंथ दा समाज नूं बहुपखी योगदान, डॉ. परमवीर सिंह, श्री पंचायती अखाड़ा निर्मल, कनखल, 2011, पृष्ठ- 163
12. वही, पृष्ठ- 173
13. वही, पृष्ठ-175

(1) सहायक प्रोफेसर (पंजाबी एवं डोगरी विभाग)
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
धौलाधार परिसर- 01, धर्मशाला (हिमाचल)-176215
दूरवाणी-9463835412, ईमेल- hjsgcm1980@gmail.com
(2) प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय
धौलाधार परिसर- 01, धर्मशाला, जिला- काँगड़ा, हि. प्र.- 176215
दूरवाणी- 9805792455, ईमेल- chandrakants166@hpcu.ac.in

'मीरायन' एक बहु अनुशासनिक (Multi Disciplinary) त्रैमासिक शोधपत्रिका है जिसे यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त है।

मीरायन में मीराबाई तथा सन्त-भक्त, भक्ति सम्प्रदाय, धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, कला, शिल्प, साहित्य आदि से सम्बन्धित स्तरीय आलेखों का प्रकाशन किया जाता है। आलेख कृतिदेव (Kruti Dev) 010 फोन्ट में Word and PDF फाइल में हमारे ई-मेल mdanisatya@gmail.com पर भेजे जा सकते है।

सुन्दरकाण्ड के आधार पर हनुमान के चरित्र का अध्ययन व विश्लेषण

- डॉ. वन्दना शर्मा

मनुष्य की अस्मिता उसकी सृजनशीलता में है और भाषा में मनुष्य की अनुशीलता को आदिमकाल से ही न केवल वहन किया है बल्कि उसकी चेतना की अंगुली पकड़कर उसे तत्वतः आगे बढ़ाया भी है। इसलिए मानवीय अस्मिता, सृजनशीलता और भाषा यह तीनों बिंदु एक संपूर्ण वृत को जन्म देते हैं। यही कारण है कि मानवीय चेतना के विकास के साथ भाषा का विकास, भाषा के विकास के साथ ही उसकी सृजनशीलता-शक्ति का विकास सदैव जुड़ा रहा है। मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति के साथ जब श्रेष्ठ कर्म जुड़ जाता है तो उसकी जीवन प्रक्रिया में आत्मज्ञान की साधना का प्रवेश होना स्वाभाविक है। धर्मशास्त्रों में आत्मज्ञान की साधना के लिए तीन गुणों की अनिवार्यता बताई गई है- बल, बुद्धि और विद्या। यदि इनमें से किसी एक गुण की भी कमी हो तो साधना का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता है। सबसे पहले तो साधना के लिए बल जरूरी है। निर्बल व कायर व्यक्ति साधना का अधिकारी नहीं हो सकता है। दूसरे साधक में बुद्धि और विचार शक्ति होनी चाहिए। इसके बिना साधक पात्रता विकसित नहीं कर पाता है। तीसरा अनिवार्य गुण विद्या है। विद्यावान व्यक्ति ही आत्मज्ञान हासिल कर सकता है। हनुमान जी के जीवन में इन तीनों गुणों का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। इन्हीं गुणों के बल पर वे जीवन की प्रत्येक कसौटी पर खरे उतरते हैं। रामचरितमानस भारत की राममय संस्कृति का प्राण है, तो सुंदरकांड संपूर्ण रामचरितमानस का हृदयस्थल कहा जा सकता है। हनुमान जी का व्यक्तित्व, चरित्र तथा उनके असाधारण कार्यों का वर्णन रामचरितमानस के इसी खंड के द्वारा सबसे प्रभावी रूप से प्रस्तुत हुआ है। भगवान राम के सेवक-भाव को सुंदरकांड ने ही तो सर्वप्रथम अपनी संपूर्णता में प्रकट किया है। इसी सुंदरकांड से हनुमान एक ऐसा कार्य कर सके, जो युगों-युगों तक केवल उनके द्वारा ही संभव किया जाने वाला एक असंभव कार्य कहलाया। इसी सुंदरकांड के द्वारा वह राम के अनन्य भक्ति-पद को प्राप्त कर सके। इसी सुंदरकांड ने उन्हें भगवान के हृदय से लग जाने का अनुपम आशीष प्रदान किया। भगवान राम के सर्वाधिक निकट अगर कोई पहुँच सका, तो वह सुंदरकांड के द्वारा हनुमान जी ही पहुँच पाए हैं। रामकथा में हनुमानजी का चरित्र अत्यंत प्रभावशाली है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आदर्शों को मूर्त रूप देने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। हनुमान जी का संवाद कौशल विलक्षण है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अशोक वाटिका में जब वे पहली बार माता सीता से मिलते हैं तब दिखाई देता है कि वे अपनी बातचीत से न सिर्फ उन्हें भयमुक्त करते हैं, बल्कि उन्हें यह भी भरोसा दिलाते हैं कि वे श्रीराम के ही दूत हैं- 'कपि के वचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास'।।[1] यह कौशल आज के युवा उनसे सीख सकते हैं। इसी तरह समुद्र लांघते वक्त देवताओं के कहने पर जब सुरसा ने उनकी परीक्षा लेनी चाही, तो उन्होंने अतिशय विनम्रता का परिचय देते हुए उस राक्षसी का भी दिल जीत लिया। कथा है कि श्रीराम की मुद्रिका लेकर महावीर हनुमान जब सीता माता की खोज में लंका की ओर जाने के लिए समुद्र के ऊपर से उड़ रहे थे, तभी सर्पों की माता सुरसा उनके मार्ग में आ गई थीं। उसने कहा कि आज कई दिन बाद उसे इच्छित भोजन प्राप्त हुआ है। इस पर हनुमान जी बोले, 'मां, अभी मैं रामकाज के लिए जा रहा हूँ, मुझे समय नहीं है। जब मैं अपना कार्य पूरा कर लूं तब तुम मुझे खा लेना।'

'जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानैं कहुँ बल बुद्धि बिसेषा।
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता।।[2]

पर सुरसा नहीं मानी और हनुमानजी को अपना ग्रास बनाने के लिए तरह-तरह के उपक्रम करने

लगी। तब हनुमान जी बोले, 'मां आप तो मुझे खाती ही नहीं हैं, अब इसमें मेरा क्या दोष?' सुरसा हनुमान के बुद्धिकौशल व विनम्रता देखकर दंग रह गई और उसने उन्हें कार्य में सफल होने का आशीर्वाद देकर विदा कर दिया। यह प्रसंग सीख देता है कि केवल सामर्थ्य से ही जीत नहीं मिलती है, विनम्रता से समस्त कार्य सुगमतापूर्वक पूर्ण किए जा सकते हैं।

सामर्थ्य के अनुसार प्रदर्शन- महावीर हनुमान ने अपने जीवन में आदर्शों से कोई समझौता नहीं किया। लंका में रावण के उपवन में हनुमानजी और मेघनाद के मध्य हुए युद्ध में मेघनाद ने 'ब्रह्मास्त्र' का प्रयोग किया। हनुमान जी चाहते तो वे इसका तोड़ निकाल सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे उसका महत्व कम नहीं करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने ब्रह्मास्त्र का तीव्र आघात सह लिया। तुलसीदास ने हनुमानजी की मानसिकता का सूक्ष्म चित्रण करते हुए लिखा है - 'ब्रह्म अस्त्र तेहिं साँधा, कपि मन कीन्ह विचार। जौ न ब्रह्मसर मानऊँ, महिमा मिटाई अपार।।'[3] हनुमान के जीवन से हम शक्ति व सामर्थ्य के अवसर के अनुकूल उचित प्रदर्शन का गुण सीख सकते हैं। तुलसीदासजी हनुमान चालीसा में लिखते हैं- 'सूक्ष्म रूप धरी सियहिं दिखावा, विकट रूप धरि लंक जरावा।'[4] सीता के सामने उन्होंने खुद को लघु रूप में रखा, क्योंकि यहाँ वह पुत्र की भूमिका में थे, लेकिन संहारक के रूप में वे राक्षसों के लिए काल बन गए।

विवेक के अनुसार निर्णय- अवसर के अनुसार खुद को ढाल लेने की हनुमानजी की प्रवृत्ति अद्भुत है। जिस वक्त लक्ष्मण रणभूमि में मूर्छित हो गए तो उनके प्राणों की रक्षा के लिए वे पूरा पहाड़ उठा लाए, क्योंकि वे संजीवनी बूटी नहीं पहचानते थे। अपने इस गुण के माध्यम से वे हमें तात्कालिक विषम स्थिति में विवेकानुसार निर्णय लेने की प्रेरणा देते हैं। हनुमानजी हमें भावनाओं का संतुलन रखना भी सिखाते हैं। लंका दहन के बाद जब वह दोबारा सीताजी का आशीष लेने पहुँचे, तो उन्होंने उनसे कहा कि वे अभी उन्हें वहाँ से ले जा सकते हैं, लेकिन वे ऐसा करना नहीं चाहते हैं। रावण का वध करने के पश्चात् ही यहाँ से प्रभु श्रीराम आदर सहित आपको ले जाएंगे। इसलिए उन्होंने सीता माता को उचित समय पर आकर ससम्मान वापिस ले जाने को आश्वस्त किया। उनका व्यक्तित्व आत्ममुग्धता से कोसों दूर है। सीताजी का समाचार लेकर सकुशल वापस पहुँचे श्री हनुमान की हर तरफ प्रशंसा हुई, लेकिन उन्होंने अपने पराक्रम का कोई किस्सा प्रभु राम को नहीं सुनाया। जब श्रीराम ने उनसे पूछा- 'हनुमान ! त्रिभुवनविजयी रावण की लंका को तुमने कैसे जला दिया? तब प्रत्युत्तर में हनुमानजी ने जो कहा उससे भगवान राम भी हनुमानजी के आत्ममुग्धताविहीन व्यक्तित्व के कायल हो गए- ''सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।''[5]

सेवाभाव की प्रबलता- भारतीय-दर्शन में सेवाभाव को अत्यधिक महत्व दिया गया है। यह सेवाभाव ही हमें निष्काम कर्म के लिए प्रेरित करता है। अष्ट चिरंजीवियों में शुमार महाबली हनुमान अपने इन्हीं सद्गुणों के कारण देवरूप में पूजे जाते हैं और उनके ऊपर 'राम से अधिक राम के दास' की उक्ति चरितार्थ होती है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम स्वयं कहते हैं- जब लोक पर कोई विपत्ति आती है तब वह त्राण पाने के लिए मेरी अभ्यर्थना करता है, लेकिन जब मुझ पर कोई संकट आता है तब मैं उसके निवारण के लिए पवनपुत्र का स्मरण करता हूँ। जरा विचार कीजिए! श्रीराम का कितना अनुग्रह है हनुमान पर कि वे अपने लौकिक जीवन के संकटमोचक का श्रेय उनको प्रदान करते हैं और कैसे शक्तिपुंज हैं हनुमान, जो श्रीराम तक के कष्ट का तत्काल निवारण कर सकते हैं।

हनुमान जी की निरभिमानता - सुंदरकांड में हनुमानजी की विनम्रता और अभिमान से रहित उनका आचरण देखने योग्य है। कठिन से कठिन कार्य को करने के उपरांत वह जरा-सा भी अभिमान नहीं करते। बड़े से बड़े वीर को जीतने में लघुता का आश्रय लेने में भी वह प्रवीण हैं। जब समुद्र के मार्ग में उन्हें सुरसा मिली और सुरसा की तुलना में उन्होंने अपना शरीर बढ़ाना शुरू किया तब अंत में उन्होंने विनम्रता

का आश्रय लेकर इस युद्ध को जीत लिया। स्वरूप छोटा कर लिया और सुरसा के मुख से बाहर आ गए। इसके उपरांत वे सुरसा को सिर झुका कर प्रणाम करना नहीं भूले। हनुमानजी के इस आचरण ने उन्हें वास्तव में बहुत बड़ा बना दिया। बड़प्पन व्यक्ति की अहंकार-शून्यता में ही निवास करता है। सुंदरकांड में हनुमानजी का चरित्र इसी बात को दर्शाता है :-

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। मांगा बिदा ताहि सिरु नावा।।[6]

हनुमान जी का बुद्धिचातुर्य - सुंदरकांड में स्थान-स्थान पर हनुमान जी के बुद्धि-चातुर्य की छटा बिखरी हुई है। उनकी समझदारी अनुपम है। वह उचित निर्णय लेने में सब प्रकार से सक्षम हैं। उनकी कार्य करने की शैली उनकी बुद्धिमत्ता को दर्शाने वाली है। अगर उनके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति समुद्र पार कर भी लेता, तो भी वह इतने प्रभावशाली ढंग से लंका पहुँचकर अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं कर पाता, जैसा असाधारण बुद्धि-चातुर्य के कारण हनुमान जी प्रस्तुत कर सके। लंका पहुँचकर हनुमान जी सबसे पहले रावण के निवास पर गए। उनका यह अनुमानजन्य निर्णय सब प्रकार से सही था तथा उन्होंने सर्वप्रथम रावण के महल की खोजबीन भली प्रकार करना उचित समझा। इसमें उनके युद्ध-कौशल का गुण भी परिलक्षित हो रहा है, क्योंकि शत्रु के सबसे महत्वपूर्ण ठिकाने की खोज खबर ले लेना स्वयं में बड़ी उपलब्धि होती है।

'गयउ दसानन मंदिर माहीं, अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।[7]

हनुमान जी की पूजा - स्वामी रामकृष्ण परमहंस हनुमानजी की नाम-जप-निष्ठा का उदाहरण बराबर देते थे। भक्तों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था- 'नाम के गुण से हनुमानजी समुद्र लांघ गये। हनुमानजी का सहज विश्वास था, मैं श्रीराम का दास हूँ और श्रीराम नाम जपता हूँ। अतः मैं क्या नहीं कर सकता?' स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा था- 'देश के कोने-कोने में महाबली श्री हनुमानजी की पूजा प्रचलित होनी चाहिए। दुर्बल लोगों के सामने महावीर का आदर्श उपस्थित करना चाहिए। देह में बल नहीं, हृदय में साहस नहीं, तो फिर क्या होगा इस जड़पिंड को धारण करने से? मेरी प्रबल आकांक्षा है कि घर-घर में बजरंगबली श्री हनुमान की पूजा और उपासना हो।' युवा शक्ति को हनुमानजी की पूजा से अधिक उनके चरित्र को आत्मसात करने की आवश्यकता है, जिससे भारत को उच्चतम नैतिक मूल्यों वाले देश के साथ-साथ 'कौशल युक्त' भी बनाया जा सके। सुंदरकांड वास्तव में रामकथा का एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। हनुमानजी इस कथा के नायक और महानायक हैं। यह अलग बात है कि वह भगवान राम के सेवक बनकर अपनी भूमिका में संतुष्ट हैं। वह स्वयं को रामदूत कहलाने में प्रसन्न हैं। भगवान राम के चरणों में स्थान प्राप्त करना ही उनके जीवन की सर्वोच्च अभिलाषा है। इस तरह वह अनन्य भक्ति के एक स्रोत बन जाते हैं।

सन्दर्भ सूची :-

1. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड का दोहा -13
2. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड के दोहा की 1 चौपाई
3. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड के दोहा 18 की चौपाई 9 की अर्द्धाली
4. हनुमानचालीसा की चौपाई 9
5. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड के दोहा 32 की चौपाई 1 की अर्द्धाली 5
6. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड के दोहा 1 की चौपाई 6 की अर्द्धाली 1
7. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड के दोहा 4 की चौपाई 3 की अर्द्धाली 1

- असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
गवर्नमेन्ट कॉलेज, नलवा-हिसार (हरियाणा)
पता : मकान नं. सी-252, मॉडल टाउन एक्सटेन्शन
हिसार (हरियाणा)-125001
मो. : 7988667753, Email : vandyhindi@gmail.com

मुगल शासकों की उदार धार्मिक नीति : जैन दर्शन का प्रतिबिंब

– हर्षसिंह गहलोत

भारत का इतिहास आरंभ से ही मानव कल्याण की भावना से ओतप्रोत रहा है। जनकल्याण की यह अवधारणा भारत की सुदीर्घ संस्कृति में इस हद तक रची बसी है कि यहाँ की संस्कृति ने ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' के आदर्श को अपनी जीवन परम्परा में आत्मसात् कर रखा है। इस विचारधारा के प्रेरणास्रोत यदि यहाँ के आचार्य और संत महात्मा रहे हैं तो दूसरी ओर यहाँ के शासकों ने भी समय-समय पर अपनी नीतियों को लोकोपकारी बनाने का प्रयास किया है। धर्म और राजनीति का यह विचित्र संयोग मानव के जीवन को समोन्नत करने की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहा। प्राचीनकाल में जहाँ सनातन, जैन, बौद्ध परम्पराओं के आचार्यों ने अपने धर्मोपदेशों से लोगों के कष्ट हरने के प्रयास किये वहीं अशोक, रूद्रद्रामन जैसे शासकों ने जनकल्याण के लिए भी मुक्तहस्त से अपने संसाधनों का प्रयोग किया। इन शासकों की धार्मिक और प्रशासनिक नीतियों पर समकालीन धर्म व धर्माचार्यों की शिक्षाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता रहा।

यहाँ के विभिन्न धर्मों में जैन धर्म भी अपनी महत्वपूर्ण पहचान रखता है और इसने समय-समय पर यहाँ के शासकों को अपने प्रभाव में लेकर उन्हें जनहितकारी कार्यों के लिए प्रेरित किया। जैन धर्म के पंच महाव्रत और गृहस्थों हेतु पंच अणुव्रत के सिद्धांत संयम, नैतिकता व उदारता आदि मानव मूल्यों से ओतप्रोत रहे जिनका प्रभाव यहाँ के जनमानस व शासकों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को मनसा-वाचा-कर्मणा के स्तर तक प्राप्त करने का विचार एक महत्वपूर्ण दर्शन का परिचायक था। जैन धर्म के अनुसार अहिंसा मानवता का आंतरिक शृंगार है और दया इसकी बाह्य परिणति है। यह संयम, मैत्री, आत्मतुला, सद्भाव, सदाचार जैसे सकारात्मक शब्दों का परिधान है, एक ऐसी नौका है जिससे भवसागर को पार किया जाता है।[1]

सभी जैनाचार्य इसी अहिंसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित रहे हैं और इस हेतु जो आचार सम्बन्धी व्रत, नियम निर्दिष्ट किए गए हैं वे सभी अहिंसा के सर्वांग परिपालन के लिए हैं।[2]

इसी प्रकार अपरिग्रह के तहत जैन आचार्य न तो अपने पास कुछ रखते हैं न ही कुछ चाहते हैं, वे भय व इच्छा से मुक्त हैं। उनके सम्पर्क में आने वाले राजा व समृद्धजन उनके त्याग से प्रभावित हुए और सादा जीवन बिताने लगे। धन व सत्ता का प्रयोग जनता की भलाई के लिए होना चाहिए। अतः वह अपने स्वयं पर कम खर्च कर अतिरिक्त भाग जनहितकारी कार्यों यथा विद्या, आहार, औषधि, अभय में खर्च करने लगे। इसी तरह जैन धर्म में ब्रह्मचर्य को सबसे बड़ा तप माना गया।

कर्म का सिद्धान्त भी जैन धर्म की महान देन है। यह स्वतंत्र इच्छा के रूप में जाना जाता है। इसके अनुसार व्यक्ति के सुख-दुःख उसकी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर हैं। कर्म आत्मक्रिया है। निरन्तर शांति व सुख की कामना प्राप्ति, प्राचीन कर्मों का क्षय तपस्या के द्वारा होता है और सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र से कर्मों का क्षय होता है और कैवल्य की प्राप्ति होती है। मनुष्य अपना भाग्यविधाता स्वयं है। कर्म के इस सिद्धान्त ने मनुष्य को विवेकी बना दिया।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म के इन सिद्धान्तों ने जनमानस के हृदयपटल पर अमिट छाप छोड़ी तथा यहाँ के शासक वर्ग को भी अपनी शिक्षाओं से प्रभावित कर उन्हें संयमित जीवन और लोककल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर किया। यह स्थिति मध्यकाल के आरंभ तक दृढ़तापूर्वक स्थापित रही। किन्तु भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना के बाद स्थितियाँ तनावग्रस्त होने लगी और अन्य भारतीय धर्मों की भांति जैन धर्म को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्न करने पड़े।

भारत में मध्यकाल का समय अपनी धार्मिक नीतियों को लेकर चर्चा में रहा क्योंकि इस्लाम का शासन और शरीयत के नियम इस काल में राजनीतिक-धार्मिक सत्ता का आधार बने रहे। इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता हिन्दू-इस्लाम संस्कृतियों के बीच राजनीतिक टकराव एवं धार्मिक हिंसा की रही। परिणामस्वरूप विजेता मुस्लिम आक्रान्ताओं ने अपनी विधर्मी काफिर प्रजा पर धार्मिक अत्याचार एवं असहिष्णुता का प्रदर्शन कर उनके धार्मिक विश्वासों को आहत करने का प्रयास किया। इस संदर्भ में दिल्ली के अधिकांश तुर्क व अफगान शासकों की धार्मिक नीति असहिष्णुतामूलक ही रही, जिसने विधर्मी प्रजा का जीवन अत्यन्त कष्टप्रद बना दिया। इस स्थिति में परिवर्तन भारत में मुगल सत्ता की स्थापना के बाद दृष्टिगोचर होता है।

भारत में मुगल वंश का संस्थापक बाबर था, जिसने 1526 ई. में पानीपत के युद्ध में विजय के बाद मुगल वंश की स्थापना की। मुगल मध्य एशिया के महान शासक तैमूर के वंशज थे और उनका धार्मिक दृष्टिकोण तैमूरी परम्परा से प्रेरित रहा। तैमूर में धार्मिक कट्टरता नहीं थी। वह कभी सुन्नी, कभी शिया, कभी जिहाद करने वाला, कभी गाजी, कभी इस्लामोत्तर धर्मों का अनुयायी हो जाता था। चंगेज खां के समय से ही मंगोल धार्मिक नीति के कट्टरपन से दूर रह कर सभी सम्प्रदायों को सम्मान की दृष्टि से देखने का प्रयास करती आई थी। यद्यपि भारत में अपनी स्थापना के साथ मुगलों ने यथासम्भव धार्मिक उदारता का परिचय दिया।[5]

मुगल सम्राज्य के संस्थापक बाबर ने धर्म के नाम पर दिल्ली सल्तनत के शासकों की भांति गैर मुसलमानों का रक्त नहीं बहाया। वह महमूद गजनवी की भांति क्रूर, निर्दयी, संकीर्ण विचारधारा, धार्मिक असहिष्णुता वाला नहीं था तथा मध्य एशिया के मंगोलों के समान क्रूर व धार्मान्ध नहीं था किन्तु अकबर के समान धर्मसहिष्णु और उदार भी नहीं था।[6]

बाबर द्वारा मन्दिर तोड़े जाने का उल्लेख नहीं मिलता। बाबर ने ग्वालियर के किले में जाकर शाही महलों व मन्दिरों को देखा और उनकी प्रतिमाओं का जिक्र किया किन्तु उन्हें क्षति पहुँचाने का कार्य नहीं किया यद्यपि उसने ऊरवा की घाटी में जैन देवी-देवताओं की मूर्तियों को नष्ट करने का हुक्म दिया जिसका कारण यह था कि वह पूर्ण रूप से निर्वस्त्र थी।[7]

हुमायूँ की नीयत प्रकृति से उदार व दयालु थी। सुन्नियों जैसी कट्टरता उसमें नहीं थी। अन्य धर्मों के प्रति उसमें द्वेष भाव भी नहीं था। उस समय प्रचलित रीति-रिवाजों के विरूद्ध उसने विधर्मियों पर अत्याचार करने से मना कर दिया। इस संदर्भ में बाबर ने हुमायूं को एक पत्र में हिन्दुओं के साथ सहनशीलता का व्यवहार करने का आदेश दिया था।[8]

प्रारम्भिक मुगल काल में जैन धर्माचार्यों व श्रेष्ठीजनों को उल्लेखनीय महत्व मिला। तीर्थ यात्रा आदि की स्वतंत्रता मिली, पशु वध पर राजकीय प्रतिबंध लगा, मन्दिरों के निर्माण-पुनःनिर्माण की छूट मिली। किन्तु जैन धर्म की समष्टिगत चमक मंद रही। यद्यपि जैन साधुओं को राजकीय सम्मान मिला किन्तु अनेक जैन लेखकों को अपने ग्रंथों में सत्ताधारियों के प्रशस्तिगान की बाध्यता अनुभूत हुई। प्रथम मुगल शासक के समय भट्टारक यशकीर्ति साधु हेमराज द्वारा निर्मित जिन मंदिर में अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएँ स्थापित की गई। इनके द्वारा रचित पांडव पुराण व हरिवंशपुराण पूर्ण हुई। बाबर द्वारा एक जैन कवि-महाचन्द्र को समान्नित किया गया। दिगम्बर साधु के साध्यप्रसाद एवं सेठ-नेमीनाथ को मंदिर निर्माण की अनुमति प्राप्त हुई। यह क्रम हुमायूं के कार्यकाल में जारी रहा। बाबर और हुमायूं दोनों जैन साधु आनन्दमेरु के प्रति श्रद्धा रखते थे। शेरशाह सूरी के समय राजधानी के प्रसिद्ध जैनियों में श्रीचन्द्र, माणिकचन्द्र, श्रेयकीर्ति, देवाचार्य आदि प्रमुख थे। हुमायूं का उत्तराधिकारी जलालुद्दीन अकबर एक महान राष्ट्रीय सहिष्णु शासक सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में हिन्दू-जैन दोनों धर्मों के प्रति उदार नीति अपनाई गई।[9]

बाबर तथा हुमायूं के काल में भी विधर्मियों के प्रति सहयोग के भाव दृष्टिगोचर हो रहे थे किंतु मुगल धार्मिक नीति की वास्तविक शुरूआत अकबर के शासनकाल से ही मानी जाती है जिसने मुगल राजसत्ता को भारतीयों के हृदयपटल पर स्थापित कर मुगल सत्ता की नींव को दृढ़ किया और मुगलसत्ता के वृक्ष को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया।

अकबर का लालन-पालन अधिक उदारतापूर्ण वातावरण में हुआ। उसकी धार्मिक नीति को उदार बनाने में उसके संरक्षक व शिक्षकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। उसका संरक्षक बैरमखां शिया धर्मावलम्बी था। उसमें सुन्नियों जैसी कट्टरता नहीं थी। उसे शिया व सुन्नी दोनों शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त हुई। उसके प्रमुख शिक्षक मुनिम खां और मीर अब्दुल लतीफ थे। अब्दुल लतीफ उदार विचारों का सुसंस्कृत विद्वान था। उसने अकबर को सुलह-कुल का पाठ पढ़ाया था। इस सिद्धांत को अकबर कभी भूल नहीं पाया। मध्यकाल में नई धार्मिक चेतना के प्रसार के कारण अकबर की धार्मिक नीति प्रभावित हुई। उस समय के भक्ति व सूफी संतों की धार्मिक एकता, मानव के प्रति प्रेम व दया की भावना से अकबर का हृदय भर उठा। अकबर का दरबार सूफी विद्वानों से सुशोभित था। जब वह सूफी शेख मुबारक व उनके पुत्रों फैजी व अबुल फज़ल के सम्पर्क में आया तो उसके हृदय में उदार विचारों का प्रकाश जगमगा उठा। इन सूफी संतों ने वहदत-उल-वजूद के सिद्धांत (दैवी एकेश्वरवाद) का नारा दिया। अकबर ने हिन्दू राजकुमारियों से विवाह किए जिससे उसकी उदार नीति को और ज्यादा बल मिला। अकबर ने पुरानी परंपराओं में मूलभूत सुधार किए। हिन्दू रानियों को धार्मिक संस्कार संपन्न करने की अनुमति प्रदान की। इसका प्रभाव उसकी धार्मिक नीति पर भी पड़ा। जब राजमहल में ही मूर्तिपूजा सहन की जा सकती थी तो महल के बाहर उसको रोकना असंगत था। इस प्रकार अकबर अपने महलों में हिंदू धर्म से घिर गया।[10]

अकबर ने अपनी धार्मिक जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए 1575 ई. में इबादतखाने का निर्माण करवाया, जहाँ वह हिन्दू, मुस्लिम, जैन, ईसाई, पारसी धर्माचार्यों से धर्म चर्चा किया करता था। इन चर्चाओं के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी धर्मों में मौलिक रूप से एक ही बात कही गई है, जिसके आधार पर उसने 1581 ई. में दीन-ए-इलाही मत का प्रतिपादन किया जो दैवीय एकेश्वरवाद के सिद्धान्त पर आधारित था।

अकबर की धार्मिक नीति को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाले तत्वों में जैन धर्म का प्रमुख योगदान रहा। जयपुर के राजवंश के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण ऐसा मालूम होता है कि बादशाह जैन धर्म के विद्वानों के सम्पर्क में बहुत पहले आ गया था।[11]

इस समय दिल्ली दिगम्बर काष्ठा संघ का केन्द्र था। अनेक श्वेताम्बर यतियों का वहाँ के समाज पर अच्छा प्रभाव था। अकबर श्रृंगार दर्पणकार का रचयिता सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैन यति पदमसुंदर अकबर द्वारा सम्मानित होने वाला प्रथम धर्माचार्य था। सन् 1581 ई. में गुजरात के अत्यधिक ख्यातिप्राप्त तपागच्छ भट्टारक हीरविजयसूरि अकबर के आमंत्रण पर आगरा आये। सम्राट से उनकी गहरी मंत्रणा हुई तथा अकबर ने उन्हें जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित किया। इस मत का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि सूरी हीरविजय के उपदेशों से प्रभावित होकर अकबर ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था।[12]

अकबर हीरविजय सूरी की विद्वता व त्यागमय जीवन से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने 6 जून, 1584 ई. को एक फरमान जारी किया जिसमें अधिकारियों को आदेश दिया गया था कि जिस स्थान पर जैनी बसे हुए हैं वहाँ जैन पर्यूषण पर्व के 12 दिनों तक जीव हत्या की अनुमति नहीं दी जाये।[13]

सूरि जी 1586 ई. में गुजरात चले गए और अपने पीछे मुगल दरबार में शांतिचन्द्र को छोड़ गये जो 1587 ई. तक दरबार में रहे। शांतिचन्द्र ने गुजरात के लिए प्रस्थान करते समय अकबर की प्रशस्ति

लिखी। गुजरात में जीवहत्या रोकने सम्बन्धी, यात्रा कर, जजिया कर के उन्मूलन के लिए अपने साथ फरमान लेते गए। वर्ष में 6 माह जीव हत्या प्रतिबन्ध के लिए सम्राट का आदेश मिला।[14]

अकबर ने जैन प्रवक्ता विजयसेन गणि को लाहौर आमंत्रित किया। जैन आचार्य अपने 100 शिष्यों के साथ 31 मई, 1593 ई. में दरबार में पहुँचे। विजयसेन ने लाहौर के ब्राह्मणों की गोष्ठी में धार्मिक चर्चा की और ब्राह्मणों के इस विचार का खण्डन किया कि जैनियों की आस्था ईश्वर के अस्तित्व में नहीं थी। उनका सम्राट पर इतना भरोसा था कि गायों, बैलों, भैंसों की हत्या पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा शाही फरमान में यह विधान रखा कि मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति पर सरकारी अधिकार और युद्धबंदियों को बंधक बनाने पर रोक लगा दी।[15]

लाहौर में ही 1592 ई. में अकबर ने ''अकबर प्रतिबोध रास'' के लेखक जिनचन्द्र सूरि को आमंत्रित कर उन्हें 'युग प्रधान' की उपाधि प्रदान की। अकबर की प्रशंसा काष्ठा संघ के राजमल एवं जिनदास पाण्डे और विद्या हर्ष सूरि, पं. बनारसीदास आदि ने अपनी कृतियों में की है। जैन यति भानुचन्द्र के फारसी ज्ञान से भी अकबर प्रभावित था। आचार्य जिनचन्द्र सूरि के शिष्य कर्मचन्द बच्छावत अकबर के अत्यन्त निकट थे। उनके अनुरोध पर सिरोही से दिल्ली ले जाई गई 1050 प्रतिमाएँ राजकीय भण्डार से बीकानेर पहुँचाई गई। आगरा के साधु टोडर ने अकबर को जैन मत के अनुकूल बनाकर आगरा और मथुरा में कई जैन मंदिरों का निर्माण व पुनर्निमाण करवाया।[16]

भानुचंद्र एक महान विद्वान थे जिन्हें हीर विजयसूरि ने उपाध्याय की उपाधि दी थी। अबुल फजल ने भी भानुचन्द्र से दर्शनशास्त्रों की दीक्षा ली। भानुचंद्र और सिद्धिचंद्र जीवनपर्यन्त सम्राट को जैन धर्म से प्रभावित करते रहे। भानुचंद्र ने 'सूर्य सहस्र' नाम की एक टीका लिखी और अकबर को सूर्य के 1000 नामों का महत्व समझाया।[17]

बादशाह ने लाहौर में साधुओं के निवास हेतु भूमि का टुकड़ा दान दिया था जहाँ मन्दिर का निर्माण किया गया जिसमें जैन तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित की। 1592 ई. में भानुचंद्र अकबर की दूसरी कश्मीर यात्रा में उसके साथ गये। वहाँ उसने बादशाह से प्रार्थना की कि शत्रुंजय पर्वत पर आने वाले तीर्थयात्रियों पर कर हटा लिया जाय, और इस आशय का फरमान जारी किया गया। अकबर भानुचंद्र व उसके शिष्य सिद्धिचंद्र का बहुत सम्मान करता था। अकबर की सलाह पर सिद्धिचंद्र ने फारसी सीखने का प्रयास किया। भानुचंद्र ने अकबर से प्राप्त भूमिदान में एक स्तूप बनवाया।[18]

जैन साधुओं ने बादशाह अकबर पर प्रभाव डालकर उससे अनेक जनकल्याण कार्य व धर्मार्थ कार्य करवाये जिनमें तीर्थों की रक्षा, गुजरात से जजिया हटाना, युद्धबंदियों को मुक्त करना, पिंजरे से पशु-पक्षी को स्वतंत्र करना आदि प्रमुख थे। जैन धर्म के प्रभाव से बादशाह अकबर को शिकार व मांस भक्षण के प्रति अरूचि उत्पन्न होने लगी।[19] 'पट्टावलि समुच्चय' में लिखा है कि बादशाह अकबर ने 6 महीने अमारि की घोषणा की।

जगद्गुरु हीर में भव्यानंद जी ने 6 महीने इस प्रकार बताये हैं - ''पर्यूषण पर्व के 12 दिन, सर्व रविवार दिन, सोफीयान व ईद के दिन, संक्राति की सर्व तिथियां, अकबर के जन्म का पूरा महीना, मिहिर नवरोज के दिन, सम्राट के तीनों पुत्रों का जन्म मास व रज्जब का दिन।[20]

अकबर ने जैन धर्म से प्रभावित होकर प्राणी वध त्याग, जीवित प्राणियों के प्रति दया, मांसाहार के प्रति अरूचि, पुनर्जन्म की मान्यता और कर्मसिद्धान्त आदि को स्वीकार किया। जैन तीर्थों को उनके अनुयायियों को सौंप दिया और उनके आचार्यों व साधुओं के प्रति उदारता दिखाई।[21]

अकबर द्वारा राज्याभिषेक के पूरे महीने मांसाहार निषेध का जो वर्णन जैन ग्रंथों में मिलता है इसकी पुष्टि ''आइने-अकबरी'' से होती है। अकबर कहा करता था कि ''मेरे राज्याभिषेक की तारीख के दिन, प्रति

वर्ष ईश्वर का उपकार मानने के लिए किसी भी व्यक्ति को मांस नहीं खाना चाहिए जिससे सारा वर्ष आनन्द से निकले। अकबर कहा करता था ''यह उचित नहीं कि आदमी अपने पेट को जानवरों की कब्र बनाये।''[22]

अकबर के इन विचारों से उसके दया सम्बन्धी विचारों का पता चलता है। यह जैन संतों का ही प्रभाव था। इन संतों के प्रभाव के महत्व को बदायूनी भी स्वीकार करता है। सावन महीने के पहले 18 दिन, आषाढ़ के पूरे महिने में और हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए और कई दिन प्राणी वध का निषेध किया गया। इस हुक्म को सारे राज्य में जारी किया गया। इसके विरुद्ध जाने वालों को सजा दी जाती थी। इन उपवासों के दिनों में बादशाह ने तपससरण की भांति मांसाहार का सर्वदा त्याग किया था। धीरे-धीरे वर्ष में 6 महीने व उससे भी अधिक दिनों तक उपवास करने का अभ्यास वह इसलिए करता था कि अन्त में वह मांसाहार का को छोड़ सके।[23]

बदायूनी कहता है कि ''सम्राट अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा जैन साधुओं व ब्राह्मणों से एकान्त में विशेष रूप से मिलता था जो नैतिक, शारीरिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, शास्त्र धर्मोन्नति और मनुष्य जीवन की संपूर्णता प्राप्त करने में दूसरे विद्वानों की अपेक्षा हर तरह से उन्नत थे। वे अपने मत की सत्यता तथा हमारे धर्म के दोष बताने में बुद्धिपूर्वक परम्परागत प्रमाण देते थे। वे ऐसी दृढ़ता व युक्ति से अपने मत का समर्थन करते थे कि उनका मत स्वतः सिद्ध प्रतीत होता था और उसकी सत्यता के विरुद्ध कोई शंका नहीं उठा सकता था।[24]

इसी प्रकार अकबर के धार्मिक विचारों को जैन धर्म ने अत्यधिक प्रभावित किया। सुप्रसिद्ध इतिहासकार विंसेण्ट स्मिथ भी जैन धर्म के प्रति अकबर की निष्ठा को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ''अकबर का लगभग पूर्ण रूप से मांस परित्याग करने व अशोक के समान जीव हिंसा का निषेध करने के लिए सख्त आज्ञाएं जारी करना, जैन गुरुओं के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने का ही परिणाम था।'' एक अन्य स्थान पर वह लिखता है कि ''मांसाहार में बादशाह की बिल्कुल रूचि नहीं थी और जब से वह जैनों के सम्पर्क में आया तभी से मांसाहार का उसने सर्वथा त्याग कर दिया।''[25]

अकबर ने यद्यपि जैन होने का दावा तो नहीं किया पर अपने आचरण में जैन शिक्षाओं को उसने अवश्य अंगीकार किया और उन्हें अपने जीवन व प्रशासनिक आदेशों व नीतियों का हिस्सा बनाया। जीव जगत के प्रति करुणा व दया भाव तथा अन्य धर्मों व दर्शन के प्रति आदर का भाव जैन शिक्षाओं का ही प्रभाव था। उसकी धार्मिक नीति को प्रभावित करने में हीरविजय सूरि, विजयसेनगणि, भानुचंद्र, सिद्धिचंद्र व जिनचन्द्र सूरि जैसे जैन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा जिन्होंने धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अकबर की जिज्ञासु प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करते हुए उसके स्वभाव में आमूलचूल परिवर्तन किया।

अकबर का उत्तराधिकारी जहांगीर भी अपने पिता अकबर की भांति ही उदार व धर्मसहिष्णु शासक सिद्ध हुआ और उसने अकबर की धार्मिक नीति का अनुसरण करते हुए गैर मुसलमानों के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित किया। हालांकि कुछ अवसरों पर प्रतिद्वन्दी धार्मिक विचारों के साथ उसके मतभेद भी हुए किन्तु उसका कारण राजनीतिक था। उसके उदार विचारों पर अकबर के अतिरिक्त उसके शिक्षक अब्दुल रहीम खानखाना, उसकी हिन्दू पत्नियों व नूरजहां का भी प्रभाव रहा। उसकी यह उदारता उसकी न्यायप्रियता में भी दिखती थी।

इससे रूढ़िवादियों की आशाओं पर पानी फिर गया। अपने सिहांसनारोहण के समय उसने जो अध्यादेश जारी किये उसमें से एक हफ्ते में दो दिन अर्थात् उसकी गद्दीनशीनी के दिन गुरुवार को और अकबर के जन्म के दिन रविवार को, भोजन के लिए पशु वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके कुछ दिन बाद आइने जहांगीरी अर्थात् जहांगीरी कानून में किसी को बलात् मुसलमान बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया।[26]

जहांगीर ने अपने पिता अकबर की तरह धार्मिक नीतियों का अनुसरण किया। अकबर द्वारा चलाई गयी सार्वजनिक पूजा गृह निर्माण की आज्ञा की प्रथा को जीवित रखा। इस काल में वीरसिंह बुंदेला ने मथुरा में शानदार मंदिर बनवाया।[27]

अकबर के समान जहांगीर के भी जैन धर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध बने रहे। अपने पदग्रहण के तुरन्त बाद जहांगीर ने भानुचंद्र और सिद्धिचंद्र के प्रतिनिधित्व में जैनियों के पक्ष में सन् 1605 में एक फरमान जारी किया, जो कि अकबर के उस फरमान की पुष्टि करता है जो वर्ष में 6 माह के दौरान पशु वध पर रोक लगाता है। यह फरमान सूरत सरकार को जारी किया गया जिसमें उल्लेख किया गया कि भानुचंद्र व सिद्धिचन्द्र के प्रतिनिधित्व में जजिया कर पर रोक, जैनतीर्थ शत्रुंजय पर्वत पर कर समाप्त, पशुवध पर रोक लगाई गई। मृतकों की सम्पत्ति को जब्त करने और युद्ध में बंदी बनाये जाने पर रोक लगाई गई। अधिकारियों को आदेश पालन करने को कहा गया कि विजयसूरि और विजयेदवसूरि जो वहाँ है उनकी उचित देखभाल करनी चाहिए। फरमान में यह भी कहा गया कि वहाँ हीरविजय सूरि की पादुका हैं। अतः यह क्षेत्र सभी करों से मुक्त किया जाए।[28]

यद्यपि खुसरो की वजह से कुछ समय के लिए जहांगीर के मन में जैन धर्म के प्रति आक्रोश उत्पन्न हुआ। जैन मानसिंह ने भविष्यवाणी की कि जहांगीर 2 वर्ष बाद संसार से विदा हो जायेगा। इस पर बीकानेर के राजा रायसिंह ने खुसरो की मदद की। अतः राजनीतिक दखल के कारण मानसिंह को दण्डित किया और जैन आचार्यों को संदेह की दृष्टि से देखने लगा। इस अवसर पर कट्टरपंथियों ने जहांगीर को समझाया कि जैन मंदिर राजनीतिक षडयंत्र के केन्द्र हैं और जैन मुनियों का दिगम्बर रहना सामाजिक रूप से अशिष्ट है। श्रीराम शर्मा ने तुजुके जहांगीरी का हवाला देते हुए कहा है कि सम्राट ने जैनियों को राज्य की सीमा से बाहर निकालने का आदेश दिया। किन्तु अन्य किसी स्रोत से इसकी पुष्टि नहीं होती है और दूसरे इस समय जहांगीर के यहाँ सिद्धिचन्द्र का निवास था।[29]

हीरविजय सूरि के बाद उनके प्रधान शिष्य विजयदेव थे किन्तु इनके विचार हीरविजय सूरि से भिन्न होने के कारण सम्प्रदाय के अन्य मुनियों ने मुनि विजयतिलक जी को आचार्य बना दिया। सम्प्रदाय के इस तरह दो भागों में बंट जाने से धर्म प्रचार को आघात लगना स्वाभाविक था। अतः बादशाह ने अहमदाबाद से दोनों आचार्यों को बुलाकर उनकी गलतफहमी दूर करने व सहिष्णुता का व्यवहार करने का आदेश दिया। मुनि जिनविजय सूरि के अनुसार जहांगीर की आचार्य विजयदेव से भेंट माण्डू में हुई।[30]

जहांगीर ने जिनचन्द्र के पट्टाधिकारी जिनसिंह सूरि से प्रभावित होकर उन्हें युगप्रधान की उपाधि प्रदान की। तपागच्छीय विजयदेव सूरि को महातपा की उपाधि से विभूषित किया। जहांगीर के राज्यकाल में पं. बनारसीदास और ओसवाल सेठ हीरानन्द मुखीम का प्रतिष्ठायुक्त सम्मान था। बनारसीदास महान कवि, अप्रतिम विद्वान, अनुभवी आध्यात्मिक विद्वान था। आगरा में शैली नाम से उसकी आवाज पर विद्वत गोष्ठियाँ होती रहती थी। जहांगीर राज्य के अन्य चमकदार जैन रत्नों में संघवी ऋषभदास, शभलसिंह मोठया, हेमराज पाटनी आदि थे।[31] इस प्रकार जहांगीर के काल में भी जैन धर्म के साथ सम्बन्ध मधुर बने रहे। कुछ एक अपवादों को छोड़कर जैन धर्म का प्रभाव साम्राज्य में कायम रहा और जैन विद्वानों, व्यापारियों व अधिकारियों को जहांगीर का समर्थन प्राप्त होता रहा।

जहांगीर के उत्तराधिकारी शाहजहां के काल में भी धार्मिक सद्भाव की नीति का अनुसरण किया गया। हालांकि शाहजहां का दृष्टिकोण कुछ रूढ़िवादी था फिर भी उसके शासनकाल में धार्मिक अत्याचार नहीं हुए। उसने भी धार्मिक क्षेत्र में उदारता का पालन किया और अकबर और जहांगीर की नीतियों को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ जारी रखा। यद्यपि उसके शासनकाल के आरंभिक वर्षों में नये मंदिरों के निर्माण पर प्रतिबंध

था किन्तु उसने अपने शासनकाल में जजिया कर नहीं लगाया। प्रारंभ में उसने इस्लाम को अवश्य संरक्षण दिया। जिसके कारण कुछ रूढ़िवादी लोग उसे इस्लाम का मुजाहिद कहते थे। किन्तु उसकी नीति गैर मुसलमानों के विरुद्ध नहीं थी तथा उस पर दाराशिकोह व जहांआरा के उदार विचारों का भी प्रभाव था। उसने सरस्वती धारक रविन्द्राचार्य की विनती पर बनारस व इलाहाबाद में तीर्थयात्रा कर समाप्त कर दिया। यह आदेश अकबर के तीर्थयात्रा कर समाप्ति के आदेश के समतुल्य था। शाहजहां ने मन्दिरों में समयसूचक घण्टियां बजाने की छूट दी क्योंकि उसका मानना था कि ईश्वर की पूजा करने वाले बहुत से साधु-संन्यासी अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना में रत रहते हैं। यह अकबर की 'सुलह-ए-कुल' की नीति की पुष्टि थी।[32]

यद्यपि शाहजहां अपने पिता व पितामह की अहिंसावादी नीति के विपरीत था फिर भी उसने कुछ मामलों में पिता व पितामह की नीति का अनुसरण किया। जहाँ तक पशुवध पर प्रतिबन्ध का प्रश्न है कट्टरपंथी होने पर भी उसने इसे मान्यता दी। यद्यपि अपने पूर्वजों द्वारा घोषित किए दिनों में कटौती अवश्य कर दी। 1629 ई. में अहमदाबाद के जैन जौहरी शांतिदास को जैन यतियों के लिए विश्रामगृह बनाने हेतु भूमिदान व अहमदाबाद के निकट एक जैनमंदिर बनवाया जिस पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की गई।[33]

बादशाह की जैन धर्म के प्रति नीति की बहुत कुछ झलक मंडलेस्लो के पश्चिम भारत भ्रमण वृतान्त से मिलती है। वह लिखता है कि ''गुजरात के गवर्नर औरंगजेब ने कट्टर धार्मिक मुस्लिम नेताओं के प्रभाव में आकर सेठ शांतिदास द्वारा निर्मित श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन मंदिर को तुड़वा दिया। सेठ शांतिदास ने आगरा आकर इसकी शिकायत की कि औरंगजेब ने उसका मन्दिर तुड़वा कर मस्जिद बनवाई। बादशाह ने शांतिदास को फरमान दिया जिसके अनुसार 1648 ई. में अहमदाबाद के शाही अधिकारियों को सम्बोधित किया कि औरंगजेब द्वारा निर्मित मस्जिद व मंदिर के मध्य दीवार खड़ी कर दी जाये और उस इमारत को शांतिदास को सुपुर्द कर दी जाये ताकि वह अपने धर्मानुसार पूजा कर सके। जिन फकीरों ने मन्दिर में घर बना लिया उन्हें हटाया जाए और जो सामग्री मंदिर के बाहर है उसे पुनः लौटा दी जाए।[34]

शाहजहां के काल में भी अनेक जैनाचार्य अपने धर्म के प्रचार-प्रसार में लगे हुए थे। 1629 ई. में आचार्य जिनराजसूरि ने वाद-विवाद में ब्राह्मणों को पराजित किया। उन्होंने सम्राट से आग्रह करके कुछ निषेध हटवाये थे। इस प्रकार जहांगीर ने तो जैन धर्म के सिद्धांतों के अनुरूप कार्य किया था लेकिन शाहजहां ने जैनाचार्यों के कुछ विशेष आग्रहों को स्वीकार कर प्रश्रय दिया। तत्कालीन मुगल अधिकारी भी इनके प्रशंसक थे।[35]

शाहजहां के समय में जैन व्यापारियों ने भी जैन समुदाय का प्रतिनिधित्व किया। पं. बनारसी दास के साथ शाहजहां शतरंज खेला करता था और इस माध्यम से वह उससे खास परिचर्चा किया करता था। इस समय भी पण्डित जी के विद्वत सम्मेलन बदस्तूर चलते रहे। सन् 1635 ई. में तिगुना साहु ने आगरा में जैन मन्दिर का निर्माण करवाया। शाहजहांकालीन प्रमुख जैन श्रेष्ठियों में संघवी संग्राम सिंह, शांतिदास, संघपति भगवानदास आदि अग्रणी स्थान रखते हैं।[36] इस प्रकार शाहजहां के काल में भी जैन धर्म के साथ मुगलों के मधुर सम्बन्ध बने रहे जो उनकी धार्मिक नीति की एक विशेषता रही।

शाहजहां के उत्तराधिकारी औरंगजेब का शासनकाल अकबर की उदार नीतियों के बिल्कुल विपरीत रहा। यद्यपि औरंगजेब योग्य था किन्तु अपने शंकालु स्वभाव, इस्लाम के प्रति अतिउत्साह एवं तत्कालीन राजनीतिक आवश्यकताओं ने मुगल धार्मिक नीति की सहिष्णु प्रवृत्तियों को असहिष्णुता में बदल दिया।

औरंगजेब की धार्मिक नीतियों पर उसके शिक्षकों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उसके शिक्षकों में मुल्ला शेख अहमद और मीर हाशिम गलानी थे जिन्होंने उसे इस बात का पाठ पढ़ाया कि सरा और हदीस

सबकुछ है और प्रत्येक मुस्लिम का कर्त्तव्य है कि वे काफिरों को इस्लाम धर्म स्वीकार कराने के लिए प्रेरित करें, उनके मंदिरों को नष्ट करें। इन सब शिक्षाओं का औरंगजेब के मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जब वह युवा हुआ तो यह प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ।[37]

औरंगजेब के शासनकाल में जैन धर्म की प्रगति एकदम से अवरुद्ध हो गयी। औरंगजेब की पादशाही के समय भारत में दो प्रसिद्ध साहूकार हुए। इनमें एक सूरत के वीरजी बोहरा थे जो धनी व्यापारी के रूप में प्रतिष्ठित थे। इस समय पश्चिमी तटवर्ती और विदेशी व्यापार पर उनकी गहरी पकड़ बनी हुई थी। यह लोकागच्छ के अनुयायी थे। उन्हीं की पारिवारिक परम्परा में स्थानकमार्गी हुंडीयां मत के प्रवर्तक लवजी सवाई हुए। दूसरे थे – आगरा के ओसवाल सेठ हीरानंद शाह जो औरंगजेब के शासनकाल में पटना में जा बसे थे। ओसवाल जाति के आगरा के दो भाई कुंवरपाल व सोनपाल उन दिनों पटना में जैन मंदिर बनवा रहे थे। हीरालाल कालान्तर में बंगाल की राजधानी मुर्शिदाबाद चले गये। औरंगजेब के समय के श्रेष्ठतम जैन श्रेष्ठियों में धमोनी से संघपति आसकरण, मुल्तान की विद्वत जैन मण्डली के प्रेरक वर्द्धमान नोलखा, फतेहपुर के दीवान ताराचन्द आदि का नाम उल्लेखनीय है।[38]

इस प्रकार औरंगजेब के काल में जैन धर्म राजधानी से उत्तरोत्तर दूर होता गया और प्रान्तीय स्तर तक सीमित हो गया। हालांकि इस काल में जैन व्यापारियों ने आर्थिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगति कर अपने राजनीतिक प्रभाव को भी कायम रखा।

उत्तर मुगलकाल में विघटित होती केन्द्रीय सत्ता के समय कतिपय जैन व्यापारी प्रान्तों की राजधानी में प्रमुख बने रहे। बादशाह फर्रूखशियर के समय दिल्ली के सेठ घासीराम तथा मोहम्मदशाह के शासनकाल में लाला केसरीसिंह तथा जगतसेठ फतेहचन्द्र उल्लेखनीय बने रहे। धीरे-धीरे जगतसेठ की पीढ़ी भारत का सम्पन्न व्यापारिक प्रतिष्ठान हो गया। जगतसेठ सुगनचन्द्र को सिराजुद्दौला का भय दिखाकर अंग्रेजों ने बुरी तरह लूटा और जगतसेठ की गौरवमयी परम्परा का अंत कर दिया। अन्तिम जगतसेठ को सम्मेद शिखर पर जल मंदिर निर्मित करने का श्रेय मिला।[39]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुगल शासकों की धार्मिक नीति वास्तव में जैन धर्म के सिद्धान्तों एवं उनके आचार्यों के उदार विचारों का एक प्रतिबिम्ब थी जिसने मुगल सत्ता को भारत में एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया। बाबर, हुमायूं और अकबर से लेकर शाहजहां तक के मुगल सम्राट निरन्तर जैन आचार्यों के सम्पर्क में रहे और इनका सान्निध्य एवं धर्मोपदेश पाकर अपने विचारों में निरंतर उदारता लाते रहे। आचार्य हीरविजय सूरि, जिनचन्द्र सूरि, भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र, विजयदेव सूरि ने इन शासकों को निरन्तर लोक कल्याणकारी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। जैन व्यापारियों ने भी अपने प्रभाव से मुगल शासकों के धार्मिक दृष्टिकोण को संयत बनाये रखने में अपना योगदान दिया। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जैन धर्म ने अपने प्रभाव से मुस्लिम सत्ता के प्रतीक मुगल राजवंश की परम्परागत आक्रांता वाली छवि को बदलते हुए उन्हें प्रजा हितैषी व धर्म सहिष्णु शासक बनने की ओर प्रेरित किया।

सन्दर्भ-

1. जैन, भागचन्द, जैन सांस्कृतिक चेतना के स्वर, तृतीय खण्ड, सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर, 2017, पृ. 4
2. वही, पृ. 388
3. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, कला व संस्कृति विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर, तृतीय संस्करण, 2003, पृ. 255
4. जैन, कैलाशचन्द्र, जैन धर्म का इतिहास, भाग 2, जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और प्रसार, डी.के. प्रिंट वर्ल्ड (प्रा.लि.) नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 587-88

5. झा, प्रवीण कुमार, श्रीवास्तव, चन्द्रमाल, मुगल शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण : एक सर्वेक्षण, कला एवं धर्म शोध संस्थान, वाराणसी, संस्करण, 2012, पृ. 25
6. वही, पृ. 18
7. सतीशचन्द्र, मध्यकालीन भारत : सल्तनत से मुगलकाल तक, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2014, पृ. 35
8. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल, भारत का इतिहास 1000-1707, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, पृ. 361
9. जैन, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 976-977
10. शर्मा, श्रीराम, द रिलिजियस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्परर्स, फर्स्ट एडिशन, हेमकरे मिलफोर्ड ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1940, पृ. 18
11. कृष्णमूर्ति, आलेख जैन एट द कोर्ट आफ अकबर, द कलकत्ता ओरियन्टल प्रेस, कलकत्ता, 1947, पृ. 137-143
12. जैन, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त
13. गणी, पं. देव विमल, हीरसौभाग्य महाकाव्यम्, श्री कालन्द्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, कालन्द्री, 1985, पृ. 273-74
14. बुहलर, जी., आलेख, जैन इनस्क्रिप्शन ऑफ शत्रुंजय, एपिग्राफिया इण्डिका, 1894, पृ. 53-54
15. शास्त्री, हीरानंद, द इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, अंक 9, 1933, पृ. 137-38
16. जैन, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 977
17. देसाई, मोहनलाल दलीचंद, भानुचंद्र चरित्र, संचालक सिंघी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता, 1941, पृ. 45
18. वही, पृ. 47
19. गणीमहोपाध्याय धर्मसागर, पट्टावली समुच्चय - 1, पृ. 73
20. भव्यान जगद्गुरु हीर, पृ. 95
21. देसाई, मोहनलाल दलीचंद, जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 537
22. जेरेट, एच.एस. (अनु.), आइने अकबरी, भाग 3, पृ. 443, 446
23. लॉ डब्ल्यू एच., बदायूनी, मुन्तखाब-उल-तवारीख (अनु.), भाग 2, पृ. 331
24. वही, पृ. 264
25. स्मिथ, वी.ए., अकबर द ग्रेट मुगल, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, खण्ड, 1917, पृ. 168, 335
26. सतीशचन्द्र, मध्यकालीन भारत, पृ. 252
27. शर्मा, श्रीराम, पूर्वोक्त, पृ. 62
28. देसाई, मोहनलाल दलीचंद, पूर्वोक्त, पृ. 47
29. जैन, कुमारी मीना, मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति पर जैन संतों का प्रभाव, पृ. 113
30. उपाध्याय, मेघविजय, देवानन्द महाकाव्य, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता, पृ. 3
31. जैन, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 978
32. गुप्ता, परमेश्वरी लाल, काव्यांश, 1969, पृ. 129
33. सतीशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 259
34. मेंडलेस्लो, ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ. 101-02
35. महोपाध्याय विनयसागर, खरतरगच्छ का वृहद इतिहास, प्रथम खण्ड, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2004, पृ. 196
36. जैन, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 978
37. गुप्ता, परमेश्वरीलाल, पूर्वोक्त, पृ. 129
38. जैन, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 978-79
39. वही, पृ. 979

- सहायक आचार्य
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-302004
मो. : 9887840636

स्वजागरण में संन्यासी विद्रोह की भूमिका : बंगाल एवं बिहार के विशेष संदर्भ में

- सौरभ राय
डा. राजीव कुमार

शोध सारांश – प्रस्तुत शोध पत्र 1763 से लगभग 1800 ईस्वी तक चलने वाले संन्यासी विद्रोह पर केंद्रित है। इसमें यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध भारतीय स्वजागरण के युद्ध में दशनामी नागा संन्यासियों के योगदान की ऐतिहासिक विवेचना की गई है। इस शोध पत्र में बंगाल एवं बिहार के क्षेत्रों में विद्रोह के दौरान घटित महत्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डालने के साथ ही साथ विद्रोह के सामाजिक-आर्थिक कारणों की भी विवेचना की गई है। इसमें भारत की संन्यास परंपरा तथा राष्ट्र एवं समाज के हित में संन्यासियों द्वारा किए जाने वाले सशस्त्र संघर्ष के दौरान उनके बलिदान की गाथाओं को इतिहासबद्ध करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्दः अंग्रेज, अनुदान, बंगाल, बिहार, संन्यासी विद्रोह, स्वजागरण विद्रोह।

प्रस्तावना – भारत में संन्यास की परंपरा का एक लंबा इतिहास रहा है। इसकी ऐतिहासिकता ऋग्वेद में वर्णित ऋषि-मुनियों से शुरू होती है तथा जैन-बौद्ध की परंपरा से होते हुए यह जीवन के अभिन्न अंग के रूप में आश्रम का रूप ले लेती है, जिसे संन्यास आश्रम कहा जाता है। भारत में संन्यासियों की अलग-अलग शाखाएँ रही जिसमें वेशभूषा, पूजा पद्धति तथा इनकी मान्यताओं में पर्याप्त विविधता देखने को मिलती है। इसी परंपरा से नागा संन्यासी भी आते थे जिनकी कुछ मान्यताएँ जैन दिगंबर साधुओं से मिलती-जुलती हैं। आठवीं शताब्दी में अद्वैतमत के प्रतिपादक शंकराचार्य ने इन नागा संन्यासियों को 10 नामों के अंतर्गत संगठित करने का कार्य किया। ये 10 नाम गिरी, पुरी, भारती, वन, आरण्य, पर्वत, सागर, तीर्थ, आश्रम तथा सरस्वती हैं। अब ये संन्यासी दशनामी नागा संन्यासी कहलाए। शंकराचार्य ने जिन चार मठों शृंगेरी, गोवर्धन, जोशी एवं शारदा पीठों की स्थापना की उन्हीं मठों से इन दशनामी नागाओं को संबद्ध करने का कार्य भी किया। उदाहरण के लिए उत्तर में स्थापित जोशीमठ से गिरी, पर्वत और सागर समूह के नागाओं को जोड़ा तथा दक्षिण में स्थित शृंगेरी मठ से पुरी, भारती व सरस्वती समूह के नागाओं को संबद्ध किया।[1]

पूर्वकाल में बौद्ध और जैन संघ बने। उसी प्रकार का एक प्रयास शंकराचार्य ने भी नागा संन्यासियों को विशेष नामों के अंतर्गत संगठित करके किया। इनके कुछ विशेष नियम भी बने जैसे दिन में एक बार से अधिक न खाना, भूमि पर सोना, किसी को अभिवादन न करना, किसी की प्रशंसा न करना, भगवा के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का वस्त्र धारण नहीं करना। यह संन्यासी चार उपवर्गों में विभाजित हैं, जिनमें संन्यासी, योगी, महंत तथा गुसाईं आते हैं। ये दशनामी संन्यासी शास्त्रधारी तथा अस्त्रधारी नामक दो वर्गों में विभाजित हैं। अस्त्रधारी संन्यासी ही हथियारों के साथ योद्धा रूप में अखाड़ों के अंतर्गत सम्मिलित हैं। इन संन्यासियों में पदानुक्रम की व्यवस्था भी देखने को मिलती है। कुटीचक, बहुदक, हंस तथा परमहंस जैसे चार पद हैं जिनमें परमहंस सर्वोपरि है।[2]

प्राचीन भारतीय समाज के चतुर्वर्णीय पद्धति पर आधारित होने के उपरांत भी ऐसे अनेक

उदहारण प्राप्त होते हैं, जिनमें ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण ने एक दूसरे की वृत्ति को धारण किया। सर जदुनाथ सरकार के अनुसार ऋग्वैदिक काल से 19 वीं शताब्दी तक ब्राह्मण सैन्य गतिविधियों में भाग लेते रहें हैं। रामायण तथा महाभारत में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। भारत पर यूनानी आक्रमण के समय सिकंदर द्वारा मालव जाति के साथ हुए संघर्ष में ब्राह्मण संन्यासियों का वर्णन आता है। एक ओर जहाँ प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक ब्राह्मण सेनानियों तथा राज-वंशों की उपस्थिति का प्रमाण मिलता है, वहीं क्षत्रियवर्ण में जनक जैसे दार्शनिक, बुद्ध तथा महावीर के समान संन्यासी एवं शिक्षक भी देखने को मिलते हैं। पूर्व आधुनिक काल में पेशवाई तथा औपनिवेशिक काल में बंगाल आर्मी में ब्राह्मण सैनिकों की अच्छी संख्या में उपस्थिति ब्राह्मण वर्ग की शस्त्रधारी परंपरा की निरंतरता को दर्शाता है। नागा संन्यासी इस परंपरा में सर्वाधिक व्यवस्थित दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि एक तो यह कि ये संन्यासी अखाड़े तथा मठों जैसी स्थापित संस्थाओं के सदस्य थे, तथा दूसरी ओर अखाड़े ध्यान, योग साधना के साथ साथ युद्ध कला प्रशिक्षण केंद्रों की तरह कार्य करते थे। उत्तर तथा पश्चिमी भारत के क्षेत्रों में नागा संन्यासियों के मठों एवं अखाड़ों की उपस्थिति व्यापक रूप से देखने को मिलती है। इन क्षेत्रों में प्रयागराज, मिर्जापुर, वाराणसी, बुन्देलखंड, पंजाब, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि शामिल हैं, जहाँ दशनामी नागा संन्यासी प्रभावशाली स्थिति में थे। इन स्थानों पर अखाड़ों तथा मठों की स्थापना किस समय प्रारंभ हुई यह निश्चित करना कठिन कार्य है। किंतु कुछ क्षेत्रों में मध्यकाल से ही अखाड़ों की स्थापना के प्रमाण मिलने लगते हैं। दशनामी संन्यासी दो वर्गों में विभाजित थे। ये दो वर्ग थे गोसाईं एवं नागा। एक ओर जहाँ गोसाईं गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे, मठों के निवासी थे। वहीं संन्यास परंपरा का अनुपालन करने वाले नागाओं के निवासस्थान अखाड़े कहलाए। इन्हीं केंद्रों से संन्यासी भारत के शेष भागों में तीर्थाटन, व्यापार एवं महाजनी जैसे कार्यों हेतु भ्रमण करते रहते थे।[3]

विद्रोह की पृष्ठभूमि – 1757 की प्लासी की लड़ाई भारतीय इतिहास में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण मानी गई है। इस युद्ध ने अंग्रेजों को बंगाल में राजनीतिक दृष्टि से स्थापित कर दिया। समुद्र तो अंग्रेजों के पास था ही अब भारत का एक समृद्ध एवं उपजाऊ भू भाग भी उनके कब्जे में आ चुका था। बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की हत्या हो चुकी थी। अब अंग्रेज ही बंगाल के दीवान थे। सरकारी मालगुजारी की वसूली पर उनका अधिकार था किंतु बंगालियों के जानमाल की सुरक्षा का दायित्व उन्होंने नहीं लिया। जनता की सुरक्षा का भार उन्होंने अपने एक कठपुतली एवं अत्यंत अयोग्य नवाब मीर जाफर को दे दिया। इस प्रकार बंगाल में द्वैत शासन प्रणाली की शुरुआत होती है, और इसी के साथ बंगाल की जनता का भविष्य लगभग दो शताब्दियों के लिए अनैतिक एवं भ्रष्ट शासन प्रणाली के अंतर्गत आ जाता है। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शक्ति द्वारा बंगाल के शोषण के सम्बन्ध में रजनी पाम दत्त 'इंडिया टुडे' में लिखते हैं कि, यदि प्लासी की लूट का माल और भारत की संपदा इंग्लैंड की ओर उन्मुख न होती तो मैनचेस्टर, पेंसिल और लंकाशायर की सूती मिलें नष्ट हो जातीं तथा जेम्सवाट, आर्कराइट, कार्टराइट जैसे आविष्कारक और उनके आविष्कार समुद्र में फेंक दिए जाते।[4]

यह शोषण चक्र चल ही रहा था कि 1769-70 में बंगाल भयंकर अकाल की चपेट में आ जाता है। इस अकाल में बंगाल की जनता ने जिन परिस्थितियों का सामना किया उसका वर्णन ही काफी हृदय

विदारक है। कहा जाता है कि बंगाल की लगभग एक तिहाई जनता ने इस अकाल से दम तोड़ दिया। हुगली नदी से बहकर न जाने कितनी लाशें समुद्र में जा रही थीं। अकाल के दौरान 9 मई 1970 के दिन अंग्रेज अधिकारियों के बीच होने वाले एक पत्राचार से इस अकाल की विभीषिका का अनुमान लगाया जा सकता है जिसमें लिखा है. ''Not a drop of rain has fallen in the most of the districts for six months. The famine which has ensued the Mortality, the Beggary. Exceed all descriptions. Above one third of inhabitants have perished in the once plentiful province of Porneah, and in other parts the misery is equal''. (अधिकांश जिलों में छह माह से बारिश की एक बूंद भी नहीं पड़ी है। इस अकाल ने मृत्यु और दरिद्रता को जन्म दिया है जो कि और बढ़ सकती है। पूर्णिया जिले के एक तिहाई लोग अकाल के दौरान मारे जा चुके हैं, अन्य भागों में भी इसी प्रकार की स्थिति है)।[5]

द ऐनाल्स आफ रूरल बंगाल मे हंटर महोदय अकाल की विभीषिका के बारे मे आगे लिखते हैं कि ''The husbandmen sold their cattle ; they sold their implements of Agriculture; they devoured their seed-grain ; they sold their sons and daughters, till at length no buyer of children could be found; they eat the leaves of trees and the grass of the field; and in June 1770 the Resident at the Durbar affirmed that the living were feeding on the dead.''[6] (किसानों ने अपने पशु व खेती के औजार, अनाज और बीज यहाँ तक कि अपने बच्चों को भी बेचा। उन्हें पेड़ के पत्ते और घास को खाना पड़ा। जून 1770 तक आते-आते मानव भक्षण की खबरें भी मिलने लगीं)। इस भयावह आपदा के बाद भी अंग्रेज अपने मालगुजारी वसूली के उद्देश्य से जरा भी विचलित नहीं हुए। पंडित जवाहरलाल नेहरु लिखते हैं- इस अकाल ने ऊपर के थोड़े से लोगों की खुशहाली के झीने आवरण के नीचे भारत की जो तस्वीर थी उसे उघाड़ कर रख दिया। यह तस्वीर ब्रिटिश शासन की बदहाली और बदसूरती की तस्वीर थी।[7] डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर ने अपनी पुस्तक 'द एनाल्स ऑफ रूरल बंगाल' में इस तथ्य को स्वीकार किया है। इस विभीषिका के प्रारंभिक दिनों की दयनीय स्थिति को बंकिमचंद्र चटर्जी ने अपने कालजयी उपन्यास आनंद मठ में भली प्रकार चित्रित किया है। प्लासी की घटना के तीन वर्ष पश्चात 1760 में संन्यासियों के द्वारा युद्ध में भाग लिए जाने की सूचना प्राप्त होती है। बंगाल की दीवानी प्राप्त होने के पश्चात अंग्रेजों ने स्थानीय जमींदारों एवं राजाओं को परेशान करना प्रारंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप कई बार सैनिक प्रतिक्रिया भी देखने को प्राप्त होती है। इसी प्रकार की घटना 1760 में हुई जब संन्यासियों ने वर्द्धमान के राजा को ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध सैन्य सहायता प्रदान की।[8] विद्रोह का एक दूसरा कारण यह भी है कि प्लासी और 1764 के बक्सर युद्ध के पश्चात मुगल तथा स्थानीय सेनाएँ भंग होने लगीं। बेरोजगार सैनिक कृषि की ओर उन्मुख हुए किंतु अनावृष्टि और अंग्रेजी लूट के कारण परिस्थितियाँ यहाँ भी विपरीत होती चली गयीं। पदच्युत सैनिक विद्रोही संगठनों में भाग लेने लगे। फलस्वरूप संन्यासी विद्रोह को बंगाल और बिहार के क्षेत्र में पर्याप्त बल मिला।

विद्रोह के एक अन्य कारण में तीर्थ यात्रा कर को भी शामिल किया जा सकता है। संन्यासी पहले जिन क्षेत्रों में समझ की वसूली किया करते थे वहीं अब उन्हें कर देना पड़ता था। राजाओं और जमींदारों से

उन्हें संन्यासोत्तर जमीनें धार्मिक अनुदानों के तौर पर प्राप्त थीं। इसे शिवोत्तर का अनुदान भी कहा जाता है। परंपरा के अनुयायी नागा साधु भूमि के प्राप्तकर्ता होते थे तथा स्थानीय जमींदार दानकर्ता। इस प्रकार के दान से जहाँ जमींदारों को सम्मान तथा पड़ोसी जमींदारों से युद्धों में संन्यासियों द्वारा सैन्य सहायता प्राप्त होती थी वहीं संन्यासियों को कृषि तथा महाजनी के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता था। इन नागा संन्यासियों को बड़ा बाजार धीतपुर हाट, बड़ा बाजार तेंगुरी एवं रेनेद आदि बहुत से गावों में कर मुक्त अनुदान भूमि प्राप्त थी।[9]

कहीं-कहीं इनके द्वारा रैयतों तथा जमींदारों के साथ महाजनी करने के भी प्रमाण मिलते हैं। अंग्रेजी शासन में परिस्थितियाँ इन संन्यासियों के विपरीत होती चली गई जहाँ इनके धार्मिक जीवन, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक हितों को भारी क्षति पहुँची। अब यह संन्यासी बंगाल की शोषित कृषक जनता, पदच्युत सैनिकों तथा मदारी फकीरों के साथ मिलकर लगभग 30 वर्षों तक चलने वाले लंबे सशस्त्र संघर्ष के लिए तैयार थे।

तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोत एवं विचार- इस विद्रोह के वास्तविक स्वरूप तथा ब्रिटिश सरकार के संन्यासियों के प्रति दृष्टिकोण को जानने के लिए तत्कालीन स्रोतों से काफी जानकारी प्राप्त होती है। इन स्रोतों में ब्रिटिश अधिकारियों के लिखे गए पत्र एवं उनके आदेश प्रमुख हैं, जिनमें से कुछ की चर्चाएँ यहाँ की गयी है। जनरल वारेन हेस्टिंग्स कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को लिखे पत्र में इन संन्यासियों को ''A set of lawless bandit'' कहकर संबोधित करता है। वह आगे लिखता है –

''Known under the name of Sanyasis and Fakirs, have long infested these countries and under the pretence of religious pilgrimage, have been accustomed to traverse the chief parts of Bengal, begging, stealing and plundering wherever they go and as it best suits their conveniences to practices.'' संन्यासियों पर चोरी, लूट तथा अनैतिकता का आरोप लगाने वालों में वारेन हेस्टिंग्स अकेला व्यक्ति नहीं था। कर्नल स्लीमन भी इसी प्रकार का आरोप लगाते हुए इन्हें अपराधी घोषित करने का प्रयास करते हैं। 2 फरवरी, को जॉर्ज कोलब्रुक को भेजे अपने पत्र में वारेन हेस्टिंग्स लिखता है कि संन्यासी वसंत के मौसम में प्रतिवर्ष 1000 से 100000 की संख्या में जगन्नाथ यात्रा पर जाते हैं तथा इस दौरान बंगाल में उपद्रव करते हैं। वह आगे लिखता है कि संन्यासियों पर पुलिस कार्यवाही के पश्चात उन्होंने अपना मार्ग बदल लिया तथा अब वे ब्रह्मपुत्र नदी पार करने के बजाय 2000 से 3000 के झुंड में रंगपुर तथा दिनाजपुर जिलों में अनेक दिशाओं में चले गए। वहीं दूसरी ओर हेस्टिंग्स वहाँ के निवासियों को धमकाने की भी बात करता है। यदि लोगों ने स्वयं संन्यासियों के बारे में सूचना नहीं दी तो उन पर गंभीर दंड लगाए जाएँ। किन्तु संन्यासियों को पकड़ने में असमर्थता बताते हुए वह लिखता है कि इन संन्यासियों में भारत के सभी जातियों के लोग शामिल हैं। इसलिए इनके बारे में कोई भी सूचना प्रदान नहीं करता। 9 मार्च 1773 को जोसीस् दु प्रे को लिखे हुए एक पत्र में वारेन हेस्टिंग्स संन्यासियों की कार्यप्रणाली के बारे में आश्चर्य भाव से कहता है ''They neither wear clothes nor have any towns or villages or families and are the stoutest and the most active men in Hindusthan.''[10] वे न तो कपड़े पहनते हैं और न ही गांवों या शहरों के निवासी हैं। वे हिंदुस्तान के सबसे साहसी और क्रियाशील लोग हैं।

ब्लॉक सेक्टर 1809 में अपने लेटर्स फ्रॉम दी मराठा कैंप में इन संन्यासियों तथा फकीरों के बारे में लिखता है कि यहाँ फकीरों की एक बड़ी संख्या है जिसमें हिंदू तथा मुसलमान दोनों हैं। इनमें से कुछ घोड़े पर चलते हैं तथा धार्मिक पवित्रता की आड़ में अधिकार के साथ भिक्षा मांगते हैं। 17वीं शताब्दी के मध्य काल की रचना दबिस्तान में वर्णित है कि संन्यासी अक्सर शस्त्र रखते थे। मुगलकाल के अच्छे दिनों में भी संन्यासियों ने एक महिला संन्यासी के नेतृत्व में औरंगजेब की सेना को हरा दिया था। इस युद्ध के भय से दिल्ली का मयूर तख्त भी हिल गया था। आधुनिक काल में बक्सर का युद्ध ऐतिहासिक महत्व रखता है। 1764 में होने वाली इस लड़ाई में ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध बंगाल के नवाब मीर कासिम, मुगल शासक शाहआलम द्वितीय, अवध के नवाब शुजाऊद्दौला, बनारस के राजा बलवंतसिंह, रोहिल्ला सरदार ज्ञानीखान आदि ने सैन्य मोर्चा बनाया। इस संयुक्त सेना का नेतृत्व 5000 की संख्या में नागा संन्यासियों ने तलवार और तीर कमान के साथ किया।

प्रमुख घटनाएँ – कंपनी के विरुद्ध नागा संन्यासियों द्वारा सशस्त्र कार्यवाही की घटनाएँ 1760 से ही प्रकाश में आने लगती हैं। 1760 के आखिरी दिनों में संन्यासियों और फकीरों ने वीरभूम के असदुज्जमनखान तथा बर्दवान के महाराजा के साथ मिलकर कंपनी के खिलाफ युद्ध में भाग लिया।[11] पूर्व में इनका एक बड़ा हमला ढाका में कंपनी की कोठी पर हुआ। यहाँ स्थित कोठी स्थानीय बुनकरों और जुलाहों पर अत्याचार का केंद्र थी। यह हमला रात में किया गया जिसमें यहाँ के कर्मचारियों और सौदागरों को कोठी छोड़कर भागना पड़ा। इस कोठी पर दोबारा नियंत्रण स्थापित करने में अंग्रेजों को छह माह का समय लगा। इसी वर्ष राजशाही जिले के रामपुर बुआलिया में संन्यासियों पर हमला हुआ। संन्यासियों ने जलपाईगुड़ी के पास महास्थानगढ़ तथा पौण्ड्रवर्धन में अपने दुर्ग बनाए। रंगपुर इन दिनों विद्रोह का मुख्य केंद्र बना हुआ था। यहाँ 1772 में भवानीगंज कचहरी पर संन्यासियों के धावे की सूचना मिलती है। अंग्रेज सेनापति थॉमस को एक बड़ी सेना के साथ इनके दमन के लिए रंगपुर भेजा गया। 29 दिसंबर 1772 के दिन थॉमस अपनी कंपनी के साथ जाफरगंज की तरफ कूच करता है, 30 दिसंबर की सुबह वह संन्यासियों पर हमला कर देता है।

विद्रोही शीघ्र ही भागने लगे। अंग्रेजी सेना उनका पीछा करते-करते जंगलों तक पहुँच गई। जंगल में विद्रोही भारी पड़ने लगे। अंग्रेजी सेना के साथ आये देशी सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। इस युद्ध में अंग्रेज सेनापति थॉमस मारा गया। इस युद्ध से संबंधित एक पत्र रंगपुर के सुपरवाइजर ने रेवेन्यू काउंसिल के पास भेजा जिसमें वह लिखता है कि किसानों ने हमारी सहायता नहीं की बल्कि उन्होंने विद्रोहियों की ओर से युद्ध में भाग लिया तथा लंबी घासों के बीच छिपे हमारे सिपाहियों को ढूँढकर मार डाला।[12] इस घटना से हमें स्थानीय जनभावना का ठीक प्रकार से पता चल पाता है। इस युद्ध के ठीक एक वर्ष पश्चात् कैप्टन एडवर्ड के साथ भी इसी प्रकार बंगाल के मालदा में भी ब्रिटिश आर्मी, पैट्रिक रॉबर्टसन व उसकी फौज के साथ मजनूशाह के नेतृत्व में युद्ध हुआ जिसमें रॉबर्टसन एवं मजनूशाह दोनों घायल हो गए। इसी वर्ष एक अन्य युद्ध बोगरा जिले में भी लड़ा गया। इस समय संन्यासी विद्रोह का एक मुख्य केंद्र पटना के आसपास भी था जहाँ विद्रोही बड़ी संख्या में उपस्थित थे। इस सेना ने पटना स्थित अंग्रेजों की कोठी तथा सरकार के वफादार जमींदारों को लूटा। सारण जिले में 5000 विद्रोही सैनिकों ने अंग्रेजी सेना की दो टुकड़ियों पर आक्रमण कर दिया जिसमें अंग्रेजों की पराजय हुई। पूर्णिया में भी इसी तरह के हमले हुए जिसमें लगभग

500 विद्रोही पकड़े गए। संन्यासियों एवं फकीरों के नेतृत्व में लड़े गए इस प्रकार के युद्धों की एक लंबी शृंखला प्राप्त होती है जिनमें 1770–71 में घोड़ाघाट की लड़ाई, 1763 में ढाका पर कब्जा, 1766 में मालदा की लड़ाई, 1784 में ढाका पर पुनः कब्जा, 1791 में गोविंदगंज की लड़ाई आदि प्रमुख घटनाएँ रहीं।

निष्कर्ष– नागा संन्यासियों द्वारा औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध किये गये व्यापक साशस्त्र विद्रोह ने विदेशी शोषण के खिलाफ भारतीय प्रतिरोध की पूर्व-पीठिका का कार्य किया। जिस समय मुगल शक्ति अपने अवसान पर थी तथा भारत की अधिकांश क्षेत्रीय शक्तियों में औपनिवेशिक ताकत का सामना करने की शक्ति नहीं बची थी ऐसी संकट की घड़ी में संन्यासियों ने भारत के बहुसंख्यक शोषित एवं पीड़ित जनता का प्रतिनिधित्व किया। संन्यासियों को इन युद्धों में किसानों, पदच्युत सैनिकों, शिल्पकारों आदि का भरपूर साथ मिला। इस विद्रोह ने स्वजागरण के अभियान में एक आदर्श स्थापित किया। संभवतः पाश्चात्य इतिहासकारों तथा नौकरशाहों ने अपने नस्लीय पूर्वाग्रह के कारण इन संन्यासियों को ठग, लुटेरे, चोर, अराजक आदि की संज्ञा दी। इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि यूरोपीय समाज में इस प्रकार की परंपरा का सर्वथा अभाव है जिसमें संन्यासी धार्मिक कार्यों के साथ-साथ आर्थिक और सैनिक गतिविधियों में भी भाग लेते हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस विद्रोह में नागा संन्यासियों ने सभी प्रकार के हितों से ऊपर उठकर स्वजागरण के लिए राष्ट्रहित में अपना सर्वस्व बलिदान किया।

संदर्भ –

1. सर जदुनाथ सरकार, ए हिस्ट्री ऑफ दशनामी नागा संन्यासी, श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी दारागंज, इलाहाबाद, 1959, पृष्ठ 50–56.
2. वही, पृष्ठ 60–61
3. आनंद भट्टाचार्य, दशनामी संन्यासीज एस्टिक्स, बनियास एंड सोल्जर्स, अनाल्स ऑफ दी भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वॉल्यूम 93, (2012), पृष्ठ 230–231.
4. रजनी पाम दत्त, इंडिया टुडे, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस,बॉम्बे,1947,पृष्ठ 97–100
5. विलियम विल्सन हंटर, अनाल्स ऑफ रुरल बंगाल,स्मिथ एल्डर एंड कंपनी, लंदन,1868, पृष्ठ 401
6. वही, पृष्ठ 26
7. जवाहर लाल नेहरु, भारत की खोज, अध्याय 9, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, पृ 119.
8. अतिस दास गुप्ता, संन्यासी फकीर रेबेलियन, 1770–1800, ए स्टडी इन ओवेर्ट फॉर्म ऑफ रेबेलियन, एन.एस.ओ.यू. ओपेन जर्नल,वॉल्यूम 3 (जुलाई 2020), पृष्ठ 48
9. अवनीन्द्र कुमार,बंगाल के संन्यासी फकीर विद्रोह : एक ऐतिहासिक अध्ययन, जर्नल ऑफ इमर्जिंग टेक्नोलोजिज एंड इन्नोवेटिव रिसर्च, वीओएलवाईयूएम 5, इश्यू 1,2018, पृष्ठ 1
10. Sannyasi Movement- A forgotten freedom struggle (indiatimes-com)
11. अतिस दास गुप्ता, संन्यासी फकीर रेबेलियन, 1770–1800, ए स्टडी इन ओवेर्ट फॉर्म ऑफ रेबेलियन, एन.एस.ओ. यू. ओपेन जर्नल,वॉल्यूम 3 (जुलाई 2020),पृष्ठ 48
12. संन्यासी एंड फकीर रेडर्स इन बंगाल, रायसाहिब जैमिनी मोहन घोष, बंगाल सेक्रेट्रीएट बुक डिपो, कलकत्ता, पृष्ठ 50

– (1) सीनियर रिसर्च फेलो, हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
(2) सहायक आचार्य, हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
धर्मशाला, जिला कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)-176215, मो. : 8957454845
सम्पर्क पता – PGT History, Jawahar Navoday Vidyalaya
KHERENGJURI, North Tripura – 799262, मो. : 8957454845

बंगाल में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना : तथ्य एवं विश्लेषण

– डॉ. कुसुम राय (पीएचडी, जे.आर.एफ, नेट, सेट)

सारांश – भारत प्राचीनकाल से ही ज्ञान और वैभव का केन्द्र रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हो या फिर वैज्ञानिक प्रगति भारत ने हमेशा ही विश्व के अन्य देशों का मार्ग प्रशस्त किया है। अपने अध्यात्म और ज्ञान से विश्व को आलोकित करने वाला यह देश जिसने कभी भी किसी दूसरे देश पर शक्ति के बल पर आक्रमण नहीं किया, ताकत के बल पर दूसरों पर वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास नहीं किया, अपने धर्म के प्रसार हेतु किसी प्रकार का अनैतिक आचरण नहीं किया, वह विश्व गुरु भारत देश प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक अनेक प्रकार के विदेशी आक्रमणों का गवाह रहा है। प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक के आक्रमणकारियों को हमारी संस्कृति ने अपने अंदर समाहित कर लिया और वे भारत भूमि और भारत की संस्कृति के अभिन्न अंग बन गए। परंतु आधुनिक काल में सौदागर के रूप में आए अंग्रेजों की मंशा कुछ और ही थी। छल-कपट की भावना और लालच से भरे हुए अंग्रेजों को सीधे और वचन के पक्के भारतीय बेवकूफ नजर आए, आपसी प्रतिद्वंद्विता जो हमारी सबसे बड़ी कमी थी और दूसरों पर विश्वास करने की प्रवृत्ति ने भारत भूमि को अंग्रेजों का गुलाम बना दिया। उनकी सबसे बड़ी विजय बंगाल पर अपनी प्रभुसत्ता की स्थापना थी। बंगाल पर अंग्रेजों की प्रभुसत्ता की स्थापना को लेकर अनेक प्रकार के तथ्य और विचार सामने आते हैं। ब्रिटिश इतिहासकारों ने अपने हिसाब से इन तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह शोधपत्र तथ्य और उनके विश्लेषण के बारे में है।

बीज शब्द : आपसी प्रतिद्वंद्विता, विश्वास करने की प्रवृत्ति, झूठी संधि, व्यापारिक और राजनीतिक लाभ, कूटनीति, षड्यंत्र।

परिचय – भारत और ब्रिटेन के इतिहास का सर्वाधिक निर्णायक युद्ध प्लासी और बक्सर का युद्ध था। इस युद्ध के परिणाम अत्यधिक प्रभाव वाले थे। इसके परिणाम ने दोनों देशों को विपरीत रूप से प्रभावित किया। जहाँ भारत पर इसका प्रभाव दुखद रहा वहीं अंग्रेजों की भारत विजय की आधारशिला इस युद्ध ने रख दी। इसके साथ ही भारतीय धन का निष्कासन प्रारंभ हुआ। इसी धन की बदौलत ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति संभव हो सकी तथा एक ऐसा राष्ट्र जो समृद्धि तथा वैभव में भारत के समक्ष कहीं नहीं ठहरता था वह भारत के भाग्य का कर्ताधर्ता बन गया और भारत की समृद्धि अतीत की गाथा बनकर रह गई।

मुख्य भाग– प्राचीनकाल से ही भारत को अनेक विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। अनेक आक्रमणकारियों ने भारत भूमि को ही अपना घर बना लिया। वह यहीं रच बस गए तथा हमारी संस्कृति को उन्होंने आत्मसात कर लिया तथा आक्रमणकारी अखंड भारत के अभिन्न अंग बनकर रह गए। परंतु सौदागर (व्यापारी) के रूप में आए अंग्रेजों का उद्देश्य भिन्न था, भारत की संपन्नता देखकर वे अचंभित थे। अंग्रेज सेनापति क्लाइव के शब्दों में ''मुर्शिदाबाद का शहर उतना ही लंबा, चौड़ा, आबाद और धनवान है जितना कि लंदन का। अंतर इतना है कि लंदन के धनी आदमी के पास जितनी संपत्ति हो सकती है उससे बेइंतहा ज्यादा संपत्ति मुर्शिदाबाद में अनेकों के पास है।''[1]

भारतीय शासक, व्यापारी, किसान तत्कालीन समय में अत्यंत समृद्ध स्थिति में थे। बंगाल तात्कालिक समय में भारत का सर्वाधिक समृद्ध प्रांत था। बंगाल पर आधिपत्य स्थापित हो जाने से अंग्रेजों

को अत्यधिक व्यापारिक तथा राजनीतिक लाभ प्राप्त होने की संभावना थी। मुगलों के पास कोई नौसेना नहीं थी, इसके साथ ही साथ बंगाल में मराठों के आक्रमण के समय मुगलों ने बंगाल की मदद नहीं की थी। इन सारी स्थितियों से अंग्रेज परिचित थे। इसके साथ ही साथ पश्चिम में मराठों की शक्तिशाली नौसेना थी जिसका मुकाबला करने में अंग्रेज सक्षम नहीं थे। बंगाल के लोग भोले भाले थे तथा शासक उन्हें कमजोर दिखते थे। इसलिए अलीवर्दी खां की मृत्यु के बाद उन्होंने षड्यंत्र करना प्रारंभ कर दिया, कोठियों की किलेबंदी प्रारंभ कर दी। पूर्णिया के नवाब शौकतजंग को नवाब सिराजुद्दौला के खिलाफ भड़काया तथा षड्यंत्र रचा जिसकी भनक नवाब को पड़ गई परंतु नवाब ने शौकत जंग और अंग्रेज दोनों को क्षमा कर दिया। यह अच्छाई ही सिराजुद्दौला को महंगी पड़ी। वस्तुतः अंग्रेजों को व्यापारी समझना और उनकी मनोवृत्ति का सही आकलन नहीं कर पाना तथा भारतीयों की सर्वप्रमुख विशेषता क्षमा कर देना ही सिराजुद्दौला की हार का कारण बना।

अपनी समकालीन विदेशी शक्तियों के मुकाबले अंग्रेज काफी अच्छी स्थिति में थे, फ्रांसीसियों का चंद्रनगर और डचों का चिंसूरा में मुख्य ठिकाना था ,कोलकाता में अंग्रेजों का मुख्य ठिकाना था। हुगली नदी के मुहाने के सर्वाधिक समीप होने के कारण अंग्रेज सर्वाधिक अच्छी स्थिति में थे जैसा कि पी. ई.रॉबर्ट्स लिखते हैं कि उनके हाथ में बंगाल की कुंजी थी। पी.ई. रॉबर्ट्स के अनुसार सिराजुद्दौला अयोग्य था। उसमें दोष और दुर्बलताएँ मौजूद थी। पी.ई. रॉबर्ट्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 1756- 57 का विद्रोह मुख्य रूप से व्यापारी और आर्थिक वर्गों, स्थानीय हिंदू और ब्रिटिश द्वारा एक विदेशी (मुस्लिम) सरकार को उखाड़ फेंकने का षड्यंत्र था। पी.ई.रॉबर्ट्स ने लिखा है कि व्यापारी वर्ग का अपमान नवाब करता था जो कि गलत है। लालच और भय द्वारा उन्हें अंग्रेजों ने अपने पक्ष में मिलाया था।[2] तथ्यों का विश्लेषण करने से बहुत सारी सच्चाइयाँ निरूपित हो जाती हैं।

हमारे शासकों की अच्छाई का अंग्रेजों ने फायदा उठाया। हार बंगाल की नहीं अपितु हर बार अच्छी स्थिति में होने पर माफ कर देने वाले सूबेदार की हुई। अंग्रेजों ने नवाब के मना करने के बावजूद किलेबंदी की, तथापि कासिम बाजार में सिराजुद्दौला की सेना के सामने अंग्रेज टिक नहीं पाए, वाट्स ने समर्पण कर दिया परंतु नैतिकता से भरे सिराजुद्दौला ने उनके सामान तक को हाथ नहीं लगाया केवल गोला बारूद को वहाँ से हटा दिया।[3] ब्लैक होल की झूठी घटना का आरोप लगाकर अंग्रेजों ने षड्यंत्र करना प्रारंभ कर दिया। तत्कालीन इतिहासकार गुलाम हुसैन ने सियार-उल-मुत्खेरीन में ब्लैक होल की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है परंतु अंग्रेजों ने इस मनगढ़ंत घटना को नवाब के विरुद्ध युद्ध के शुभ अवसर के रूप में इस्तेमाल किया। अंग्रेजों द्वारा षड्यंत्र का सिलसिला प्रारंभ हो गया। नवाब के विरोधियों से मित्रता स्थापित की गयी, नवाब के अपनों यथा प्रधान सेनापति मीर जाफर, राय दुर्लभ, अमीनचंद तथा बंगाल के एक प्रभावशाली साहूकार जगत सेठ ने अंग्रेजों का साथ दिया। वस्तुतः प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को अंग्रेजों ने नहीं बल्कि भारतीयों ने ही पराजित किया। प्लासी की विजय यद्यपि अंग्रेजों की थी परंतु उसे विजय तक भारतीयों ने ही पहुँचाया।[4]

क्लाइव ने कूटनीति का सहारा लिया, क्योंकि क्लाइव को पता था कि ईमानदारी की लड़ाई में उसकी सेना सिराजुद्दौला की सेना का मुकाबला नहीं कर पाएगी। इसलिए अंग्रेजों ने रिश्वत और लालच के साथ-साथ झूठे वादों का भी सहारा लिया था। मीर जाफर को पद का लालच तथा जगत सेठ को भय दिखाकर अपनी ओर मिला लिया तथा व्हाट्स और उसके साथी जिसकी सिराजुद्दौला ने जान बक्शी थी

नवाब के खिलाफ षडयंत्र कर रहे थे।[5] के. एम. पन्निकर के अनुसार यह एक सौदा था जिसमें बंगाल के धनी सेठों तथा मीर जाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथ बेच डाला।[6] वस्तुतः वचन के पक्के भारतीय अंग्रेजों की कूटनीति तथा छल प्रवृत्ति का सही आकलन नहीं कर सके। प्रशासकीय अधिकारी तथा आम जनता अंग्रेजों की प्रवृत्ति का अंदाजा नहीं लगा पाई। इस युद्ध के बाद बंगाल के धन से अंग्रेज समृद्ध होने लगे तथा बंगाल की जनता निर्धन। इसी धन के सहारे अंग्रेजों ने दक्कन विजय की तथा उत्तरी भारत को अपने अधीन लाने की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया जैसा कि मालेसन लिखते हैं कि इतिहास में इतना प्रभावित करने वाला युद्ध नहीं लड़ा गया था।

कुछ सालों में मीर कासिम अंग्रेजों की भूख मिटाने में खुद को अक्षम पाने लगा। अंग्रेजों ने फिर षड्यंत्र करना प्रारंभ कर दिया, सत्ता के लालच ने जहाँ मीर जाफर को गद्दार बनाया था उसी सत्ता का लालच देकर मीर कासिम को अंग्रेजों ने अपनी तरफ कर लिया। कलकत्ता काउंसिल और मीर कासिम के बीच सितंबर 1760 में संधि संपन्न हो गई। मजबूरी में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से मीर जाफर को मीर कासिम के पक्ष में अपनी गद्दी छोड़नी पड़ी।

मीर कासिम अली वर्दी खां के उत्तराधिकारियों में सर्वाधिक योग्य था। उसने निम्न कार्यों से अपनी सत्ता को सुधार करने का प्रयास किया :- अंग्रेजों के हस्तक्षेप से बचने के लिए अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले गया, सेना का गठन यूरोपीय पद्धति से किया, मुंगेर में तोप तथा तोड़ीदार बंदूक निर्माण हेतु कारखाना स्थापित किया, मीर कासिम ने राजस्व प्रशासन में भ्रष्टाचार को समाप्त करने का भी प्रयास किया, उसने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया, परंतु अंग्रेज लालच से भरे हुए थे। अंग्रेजों की नैतिकता का पतन तो बहुत पूर्व ही हो चुका था। यद्यपि मीर कासिम ने कंपनी के सहयोग से ही सत्ता प्राप्त की थी परंतु वह कंपनी की साम्राज्यवादी नीति में ठीक नहीं बैठता था। मीर कासिम स्वतंत्र रूप से शासन करना चाहता था, उसने शासन व्यवस्था में सुधार करना प्रारंभ कर दिया। अंग्रेजी हस्तक्षेप से बचने के लिए मीर कासिम ने मुर्शिदाबाद के स्थान पर मुंगेर को राजधानी बनाई, राजस्व प्रशासन में सुधार के कारण राज्य की आय दुगनी हो गई।

कंपनी आंतरिक व्यापार में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रही थी। अंग्रेज न केवल जनता पर अत्याचार करते थे अपितु मीर कासिम के अधिकारियों को बंदी बना लेते थे। जैसा कि मैकाले लिखता है कंपनी का प्रत्येक सेवक अपने आपको स्वामी समझता था तथा स्वामी अपने आपको कंपनी का ही रूप समझता था।[7]

कंपनी और मीर कासिम के बीच तात्कालिक विवाद दस्तक के दुरुपयोग के प्रश्न पर प्रारंभ हुआ। 1717 ईस्वी में कंपनी को बंगाल में बिना चुंगी दिए व्यापार करने की सुविधा मिली थी। परंतु कंपनी के अधिकारी अपने निजी व्यापार के लिए इसका दुरुपयोग करने लगे थे। इसके साथ ही कंपनी के अधिकारियों ने धन लेकर भारतीय व्यापारियों को भी दस्तक देना आरंभ कर दिया। फलस्वरूप राज्य को प्राप्त होने वाली चुंगी समाप्त हो गई तथा नवाब को व्यापार से प्राप्त होने वाला राजस्व समाप्त हो गया।

मीर कासिम ने गवर्नर को सूचित भी किया कि किस प्रकार कंपनी के अधिकारी किसान तथा व्यापारियों का शोषण करते हैं। परंतु कलकत्ता परिषद के सदस्य अपने लाभ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। फलस्वरूप नवाब ने जवाबी कार्यवाही करते हुए सभी व्यापारियों को निशुल्क व्यापार की अनुमति प्रदान कर दी। भारतीय व्यापारी तथा अंग्रेज व्यापारी अब समकक्ष हो गए।

बक्सर का युद्ध (1764) – 1763 ईस्वी में युद्ध प्रारम्भ हो गया, मीर कासिम छोटी झड़पों में पराजित हुआ तथा दिसंबर 1763 ईस्वी में नवाब ने अवध में शरण ली। मीर कासिम ने मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय तथा अवध के नवाब शुजाउदौला के साथ मिलकर अंग्रेजों के खिलाफ सैन्य गठबंधन बनाया। कंपनी की सेना का नेतृत्व हेक्टर मुनरो के हाथ में था। युद्ध 22 अक्टूबर 1764 ई. को बक्सर नामक स्थान पर हुआ। युद्ध में अंग्रेजों की विजय हुई। बक्सर युद्ध के परिणाम ने प्लासी के निर्णय पर मोहर लगा दी।

बक्सर के युद्ध ने भारतीय इतिहास की दिशा बदल दी। बंगाल का नवाब कंपनी की कठपुतली एवं मुगल बादशाह पेंशनर बन गए। भारतीय दासता का युग प्रारंभ हो गया। बक्सर विजय के बाद क्लाइव को अंग्रेजी प्रदेशों का गवर्नर बनाकर भेजा गया। क्लाइव ने अवध के नवाब शुजाउदौला के साथ इलाहाबाद की संधि संपन्न की तथा मुगल बादशाह शाह आलम के साथ इलाहाबाद की दूसरी संधि अगस्त 1765 में संपन्न की। फलस्वरूप बंगाल में दोहरी शासन प्रणाली प्रारंभ हुई। दोहरी शासन व्यवस्था के कारण बंगाल में अराजकता व भ्रष्टाचार की स्थिति बन गई,व्यापार एवं कुटीर उद्योगों का विनाश हो गया तथा किसान गरीबी व भूखमरी के शिकार हो गए।[8]

निष्कर्ष :– बंगाल विजय के कारणों का यदि विश्लेषण करें तो उपरोक्त लिखित तथ्यों के आलोक में यह लगता है कि हमारे विश्वास करने की प्रवृत्ति तथा आपसी फूट ने अंग्रेजों का मार्गप्रशस्त कर दिया। हम में एक राष्ट्र की भावना का अभाव था। विभिन्न प्रांतों के शासक और जनता ने कभी सम्मिलित प्रयास नहीं किया जैसा कि क्लाइव ने पार्लियामेंट की कमेटी के सामने गवाही देते हुए कहा था कि ''नगर के लोग जो उस अवसर पर तमाशा देख रहे थे कई लाख अवश्य रहे होंगे और यदि वे चाहते तो लकड़ियों और पत्थरों से हम यूरोपीय लोगों को वहीं खत्म कर सकते थे।'' इतिहास के पन्ने इन तथ्यों से वाकिफ हैं कि भारतीय जनता ने सालों तक अंग्रेजों के जुल्मों को बर्दाश्त किया। अपने ही बीच के कुछ लोग अंग्रेजों के साथ मिल गए, हमारे सीधेपन ने अंग्रेजों को मौका दे दिया, हमें जागने में पूरे 100 साल लग गए। इन 100 सालों में बंगाल और भारत के अन्य प्रांतों के धन से इंग्लैंड लगातार प्रगति करता रहा। भारत में भारतीयों की मदद से ही वे शासन करने में कामयाब रहे। वस्तुतः अपनी निंदनीय कूटनीति और झूठी संधि के बल पर ही बंगाल की विजय अंग्रेज संभव कर पाए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. सुंदरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, (जुलाई 1960), पृष्ठ 127
2. रॉबर्ट्स पी.ई., ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास, एस.चांद एंड कंपनी, 1955, पृष्ठ 105–115
3. सुंदरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, पूर्वोक्त, पृष्ठ 131 –133
4. ग्रोवर मेहता, बी. एल. अलका, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन, एस.चांद एंड कंपनी प्रा. लि., 2016, पृष्ठ 48
5. सुंदरलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 133
6. ग्रोवर, मेहता, बी. एल.,अलका, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन ,पूर्वोक्त, पृष्ठ 49
7. उपरोक्त, 51, 52, 53
8. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त,रमेशचंद्र हेमचंद्र, कालीकिंकर, भारत का वृहद इतिहास, आधुनिक भारत, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, 1961, पृष्ठ 41–42

– सहायक प्राध्यापक, इतिहास
भेरूलाल पाटीदार शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय महू (इन्दौर), मध्यप्रदेश– 453441
मो. 98265–08254

रामायण में राष्ट्रवाद

– डॉ. जितेन्द्र प्रताप सिंह

किसी भी भौगोलिक सीमा क्षेत्र के अंर्न्तगत वहाँ के लोगो में एक दूसरे के लिए एकजुटता और आपसी समन्वय की भावना जो समय के साथ धीरे-धीरे बढ़ती चली जाय उसे ही हम राष्ट्रवाद कहते हैं। इसमें लोगों के मध्य सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकजुटता की भावना का जब निर्माण होता है तो राष्ट्रवाद का निर्माण होता है। वस्तुतः राष्ट्रवाद यह विश्वास है कि लोगों का एक समूह इतिहास, परंपरा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर स्वयं को एकीकृत करता है।

भारत का राष्ट्रवाद वस्तुतः भौतिकवादी या राजनीतिक नहीं है बल्कि सांस्कृतिक है और उस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रथम घोषणा भगवान श्रीराम ने की थी। इसीलिए वे राष्ट्रपुरुष हैं। श्रीराम ने एक आदर्श शासन व्यवस्था की स्थापना की मर्यादा निभाने के लिए राज सिंहासन को छोड़कर वनवासी जीवन स्वीकार किया। रामायण में कहा गया है कि-

'स्नेहम् दयाम् तथा सौख्यम् यदि व जानकी मपि आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति में व्यथा।' अर्थात् - देश व समाज की सेवा के लिए स्नेह, दया, मित्रता यहाँ तक कि धर्मपत्नी को भी छोड़ने में मुझे कोई पीड़ा नहीं होगी। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कर्मभूमि का प्रयोग भारत भूमि के लिए हुआ है।

पर्वतों एवं वनों सहित यही वसुधा देवी वसुंधरा ही भारत भूमि थी जिसमें द्रविड़, सिन्धु सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणपथ, अंग, बंग, मत्स्य, काशी, कोशल आदि देश सम्मिलित थे। रामायण में इसका सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया गया है कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मानों समुद्र को माला की तरह धारण किये हुए है।

प्राचीनकाल से ही भारतीय जनजीवन धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित रहा है जिसमें नैतिक मूल्यों, आचारगत अभिव्यक्तियों तथा ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना का सन्निवेश था। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है। इसके प्रत्येक क्रियाकलाप धर्म संबलित हैं। वस्तुतः धर्म व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, नियमित एवं नियंत्रित करती है तथा उसके स्वस्थ एवं उज्ज्वल जीवन के लिए मार्गप्रशस्त करती है। धर्म का अर्थ वस्तुओं के तत्वों को समन्वित रखने की शक्ति एवं क्रिया से भी है।

प्राचीन भारतीय परंपरा में धर्म केवल सिद्धांत ही नहीं था अपितु उसमें मनुष्य के समस्त क्रियाकलाप सम्मिलित थे। इसका तात्पर्य है कि यह वह जीवन पद्धति या आचार संहिता थी जिससे व्यक्ति के रूप में तथा समाज के सदस्य के रूप में प्रत्येक मनुष्य की गतिविधियाँ नियंत्रित होती थी। धर्म का उद्देश्य समाज में वे परिस्थितियाँ स्थापित करना था जिनसे मनुष्य धीरे-धीरे उन्नति करके जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त कर सके।

धर्म की प्रतिमूर्ति श्रीराम के माध्यम से वाल्मीकिजी ने संतुलित समाज व्यवस्थित राष्ट्र, मर्यादित आचार, एवं संयम व्यवहार की आधारशिला पर धर्म का सुदृढ प्रासाद निर्मित किया है। रामायण में अयोध्या के नागरिकों की जिस उत्तम स्थिति का विवेचन किया गया है वह इस तथ्य का द्योतक है कि वे कितने सुसंस्कृत, कलाभिज्ञ, सौन्दर्यप्रिय एवं सदृश्यता की दृष्टि से पर्याप्त उन्नतशील थे।

रामायण के माध्यम से वाल्मीकि ने परिवार के उत्कृष्ट मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है। इस में पिता -पुत्र, पति-पत्नी, भाई, मित्र आदि के मध्य अच्छे सम्बन्धों का आदर्श प्रस्तुत है। समाज की एक इकाई के रूप में परिवार इसकी परंपराओं, भावनाओं एवं आचार विचारों को वर्षों से आत्मसात करता आया है।

वाल्मीकि ने यह बारंबार प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि मनुष्य को उन सभी संस्कारों एवं रूढ़ियों का मनोयोगपूर्वक संरक्षण एवं पालन करना चाहिए जो परिवार में अतीत काल से प्रतिष्ठित हो चुके है। परिवार के अनुशासन में निश्छल प्रेम एवं सेवा भावना की महती अवश्यकता होती है। इसके अभाव में पारिवारिक आदर्श की स्थापना असम्भव होती है। सहनशीलता एवं धैर्य भगवान श्रीराम के विशेष गुण थे। 14 वर्ष वन में संन्यासी की भाँति जीवन बिताना उनकी सहनशीलता की पराकाष्ठा है। राज्याभिषेक के अवसर पर 14 वर्ष के वनवास का समाचार सुनकर श्रीराम के मुखमंडल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

भगवान श्रीराम का उद्देश्य राक्षसों के आतंक से धरती को मुक्त कराके सुख, शांति एवं समृद्धि के राज्य की नींव रखना था। श्रीराम दृढ़संकल्प के धनी थे। अपने सम्पूर्ण जीवन में उन्होंने मनसा-वाचा-कर्मणा जो भी प्रतिज्ञा की उसे मनोयोग से पूर्ण किया। श्रीराम का सम्पूर्ण जीवन त्याग, मर्यादा, संयम एवं धैर्य का परिचायक है। विषम परिस्थितियों में भी श्रीराम नीतिसम्मत रहे। स्वयं की भावना एवं सुखों से समझौता न कर उन्होंने सदा धर्म एवं सत्य का साथ दिया। आदिकवि वाल्मीकि ने उनके विषय में कहा है कि - श्रीराम गांभीर्य में सागर के समान और धैर्य में हिमालय के समान हैं।

महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम को कुशल प्रशासक एवं श्रेष्ठ न्यायप्रिय राजा के रूप में वर्णित करते हुए कहा है कि उपलब्ध संसाधनों का समुचित प्रयोग श्रीराम के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है। एक-एक पत्थर जोड़कर समुद्र पर पुल बनाना तथा दुर्जेय लंका नगरी में वानरों के माध्यम से पहुँचना उनकी कुशल प्रबंधन क्षमता एवं नीति निपुणता का परिचायक है। श्रीराम श्रेष्ठ प्रजापालक थे, तथा प्रतिपल अपनी प्रजा के कल्याण में तत्पर रहते थे। उनके श्रेष्ठ प्रशासनिक ज्ञान का विवरण चित्रकूट में भरत- राम संवाद से प्राप्त होता है। राम ने भरत से पूछा- प्रजा से कर कैसे ले रहे हो? भरत ने कहा, जैसे इक्ष्वाकु वंश लेता है। इस पर श्रीराम ने कहा, हम सूर्यवंशी हैं, हमें प्रजा से ऐसे कर लेना चाहिए जैसे सूर्य पृथ्वी से जल लेता है। सूर्य समुद्र, नदी, तालाब से जल लेता है। परन्तु लेने का पता नहीं चलता। जब वह बादलों के रूप में जरूरत के स्थानों पर बरसता है, तब देने का पता चलता है।

राजा के गुणों का वर्णन करते हुए रामायण में कहा गया है- जो राजा स्थूल आँखों से तो सोता है परन्तु नीति की आँखों से सदा जागता रहता है तथा जिसमें क्रोध और अनुग्रह का फल प्रत्यक्ष प्रकट होता है उसी राजा की लोग पूजा करते हैं। रावण को समझाते हुए मारीचि कहते हैं- श्रीराम धर्म के मूर्तिमान स्वरूप हैं। वे साधु और सच्चे पराक्रमी हैं। जैसे-इन्द्र समस्त देवताओं के अधिपति हैं उसी प्रकार श्रीराम भी जगत के अधिपति हैं, जिसमें नीति, विनय, सत्य एवं पराक्रम आदि समस्त राजोचित गुण यथावत रूप से स्थित देखे जाएँ वही देश-काल-तत्व को जानने वाला राजा होता है।

रामायण काल में ऋषि-मुनियों को राक्षसों ने आतंकित किया हुआ था। श्रीराम ने अपने पराक्रम से ऋषियों के आध्यात्मिक स्वामिभान की रक्षा की तथा उनके आश्रमों को राक्षसों के भय से मुक्त किया।

विश्वामित्र को ताड़का व सुबाहु से मुक्ति दिलाई। वाल्मीकि, अत्रि ऋषि, मांतग ही नहीं, सैकड़ों ऋषियों के आश्रमों को उन्होंने ज्ञान, ध्यान और साधना का पावन केन्द्र बनवाने में सहयोग किया। ऋषि अत्रि को राक्षसों से मुक्ति दिलाने के पश्चात श्रीराम दण्डकारण्य गए, जहाँ आदिवासियों को बाणासुर के अत्याचार से मुक्त करके उनके बीच रहे।

श्रीराम ने ऋषि-मुनियों के स्वाभिमान एवं उनकी आध्यात्मिक स्वाधीनता की रक्षा कर उनके जीवन एवं भविष्य को स्वावलंबन के प्रकाश से आलोकित किया। इतना ही नहीं, दंडकारण्य क्षेत्र के हताश एवं भयभीत आदिवासियों को भी स्वाधीनता एवं स्वावलंबन का मूलमंत्र प्रदान किया।

राजा श्रीराम अपनी प्रजा के सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रबल पक्षधर एवं सरंक्षक थे। रावण को मारकर लंका पर जब श्रीराम ने विजय प्राप्त कर ली, तब लक्ष्मण ने स्वर्णमयी लंका पर शासन करने का सुझाव दिया, तब श्रीराम ने कहा-

अति स्वर्णमयी लंका न में लक्ष्मण रोचते।

जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।

हे लक्ष्मण! रावण की सोने की लंका में मेरी बिल्कुल रूचि नहीं है। जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती है। श्रीराम का यह चिंतन हमें भी अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम को अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा प्रदान करता है एवं राष्ट्रवाद की भावना को प्रेरित करता है। भगवान श्रीराम ने दया और करुणा के माध्यम से सभी को अपनी छत्रछाया प्रदान की। उनकी सेना में पशु, मानव, दानव सभी का समान स्थान था। सुग्रीव को राज्य प्रदान करना, हनुमान, जामवंत, नल, नील को समय-समय पर नेतृत्व का अवसर प्रदान कर उन्होंने सभी के मानस पटल पर स्वावलंबन का बीजारोपण किया। सुग्रीव हो या निषादराज या फिर विभीषण, हर जाति, वर्ग के मित्रों के प्रति श्रीराम का अपार स्नेह था। श्रीराम भरत के लिए आदर्श भाई, हनुमान के लिए आदर्श स्वामी, प्रजा के लिए नीतिकुशल व न्यायप्रिय राजा, सुग्रीव और केवट के परम मित्र थे।

भारतीय समाज में मर्यादा, श्रेष्ठ आदर्श, विनम्रता, विवेक, लोकतांत्रिक मूल्यों और संयम का नाम राम है। उनका महान व्यक्तित्व संयमित, संस्कारित, मर्यादित जीवन की प्रेरणा प्रदान करता है। ईश्वरीय निधि और असाधारण गुणों के स्वामी होते हुए भी उन्होंने एक सामान्य मानव का जीवन जिया। सभी संबधों को पूर्ण तथा उत्तम रूप से निभाने की शिक्षा श्रीराम के पवित्र जीवन से प्राप्त होती है।यह श्रीराम के कुशल प्रशासन तथा आध्यात्मिक विज्ञान का ही प्रभाव था कि अयोध्या की सम्पूर्ण प्रजा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रूप से पूर्ण समृद्ध थी। बालकांड में महार्षि वाल्मीकि कहते हैं कि उनकी नगरी में कोई नर-नारी निष्ठुर, मूर्ख, नास्तिक नहीं थे। समाज ज्ञानवान एवं शीलवान था। यही कारण है कि रामराज्य के इन आध्यात्मिक आदर्शों का अनुसरण करने की प्रेरणा हमें सदैव मिलती है।

राम का विशाल हृदय प्रत्येक प्राणी के प्रति वात्सल्य, स्नेह, ममता व करुणा से परिपूर्ण है। शत्रुओं के प्रति भी उनमें वैरभाव नहीं है। रावण के वध के पश्चात उन्होंने पूरे विधि -विधान से उसका अंतिम संस्कार करवाया। शत्रु के प्रति ऐसे श्रेष्ठ व्यवहार का उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता।

रामायण के राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के आदर्श हैं। शरणागतवत्सल एवं लोकमंगलकारी हैं। पिता दशरथ की मृत्यु के पश्चात शोकसंतृप्त परिवार तथा भ्राता भरत को वैराग्य का उपदेश देना श्रीराम के आध्यात्मिक ज्ञान एवं साधना का द्योतक है। वर्तमान समय की भोगवादी संस्कृति के कारण विघटित होते परिवारों के लिए श्रीराम का जीवन श्रेष्ठ पारिवारिक आदर्श को प्रस्तुत करने वाला है।

श्रीराम प्रत्येक प्राणी में रमी हुई विराट सत्ता है। उनका पावन चरित्र जाति, संप्रदाय एवं पक्ष से ऊपर है। वह राष्ट्र की एकता के सूत्रधार हैं। शबरी की कुटिया में नतमस्तक होकर जाने, निषादराज का आतिथ्य स्वीकार करने, वनवासियों को अपना बना लेने से उनकी सामाजिक सद्भावना का पता चलता है। श्रीराम के जीवन के स्वर्णिम सिद्धातों में ही राष्ट्र की स्वाधीनता एवं स्वाभिमान का सूत्र निहित है, हमें उनका अनुसरण करना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रामायण राष्ट्रवाद की भावना को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वस्तुतः वाल्मीकि रामायण में तत्कालीन भारतीय समाज का अत्यन्त विशद एवं सर्वांगीण चित्र उपलब्ध होता है जिसने न केवल भारतीय संस्कृति अपितु विश्व संस्कृति को भी अपने प्रकाश से आलोकित किया है। साथ ही मानवीय मूल्यों के उत्कृष्ट स्वरूपों को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में प्रसारित भी किया है, जो भारतीय संस्कृति की विश्व को प्रमुख देन है।

सन्दर्भ स्रोत-

1. रामायण, वाल्मीकि कृत, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2002
2. रामायण, बेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई, दक्षिणात्य संस्करण (गुजराती प्रेस) एवं पश्चिमोत्तर शाखा (लाहौर संस्करण, 1931)
3. अध्यात्य रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, 2021
4. विष्णुपुराण, मुम्बई, 1889
5. रघुवंश, कालिदास कृत, कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी, 2012
6. अग्रवाल, रामचन्द्र, उत्तर भारत की मूर्तिकला में रामकथा, राजस्थान भारती (बीकानेर), भाग-11, अंक 1
7. कौशिक, जयनारायण, रामकथा एवं लोकसाहित्य, हिन्दी बुक स्टोर, नई दिल्ली।
8. खान बैन्जामिन, द कांसेप्ट ऑफ धर्मा इन वाल्मीकि रामायण, मुंशीलाल मनोहरलाल, 1956
9. गुप्त, रामेश्वर प्रसाद, वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक तत्व, ईस्टर्न बुक डिपो, दिल्ली
10. धर्मा पी.सी, द रामायण पॉलिटी, मद्रास 1941
11. बुल्के फादर कामिल, रामकथा : उत्पत्ति एवं विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1950
12. व्यास : एस.एन., रामायणकालीन संस्कृति, सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, 1964

- असिस्टेन्ट प्रोफेसर (इतिहास)
न्यू स्टैण्डर्ड कॉलेज ऑफ हायर एजुकेशन
सलेथू, रायबरेली (उत्तरप्रदेश)-229123,
मो. : 9452231064

मीरायन के बैंक खाता का विवरण

1. खाता का नाम	**मीरा स्मृति संस्थान (MEERA SMRITI SANSTHAN)**
2. खाता संख्या	**बचत खाता 51042428405**
3. बैंक शाखा	**भारतीय स्टेट बैंक, कलक्टरेट शाखा, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)**
4. IFSC	**SBIN0031237**

कम्बोडिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार

– अनुराग वर्मा

सारांश – भारत एवं कम्बोडिया के सम्बन्धों को प्रारम्भिक काल से ही प्रभुत्ववादी सांस्कृतिक सम्बन्धों के विस्तार के रूप में देखा जाता रहा है। भारत एवं कम्बोडिया के मध्य सम्बन्ध व्यापार के प्रयोजन से प्रारम्भ हुआ। इन व्यापारियों के साथ अनेक ज्योतिषी, चिकित्सक, साधु-संत एवं धर्म प्रचारक भी वहाँ पहुँचे। इन्हीं समूहों के द्वारा कम्बोडिया में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हुआ जिसे कम्बोडिया में तत्कालीन समय में स्वअभिप्रेरणा से स्वीकार किया गया। वर्तमान समय में कम्बोड़िया आज भी भारतीय संस्कृति को अपने जीवन में आत्मसात किये हुए है। आज भी कम्बोडिया की करीब 95 प्रतिशत आबादी बौद्ध धर्म की थेरवाद शाखा की अनुयायी है।

मूल शब्द– कम्बोडिया, फुनान, संस्कृति, भारतीयकरण, कम्बुज, सांस्कृतिक तत्व।

प्रस्तावना – भारत प्राचीनकाल से ही तमाम सभ्यता एवं संस्कृतियों का पालना रहा है। जिस प्रकार भारत ने तमाम सांस्कृतियों को आत्मसात किया है उसी प्रकार भारत ने भी अपनी सीमाओं के बाहर अपनी सभ्यता एवं संस्कृतियों का प्रसार किया है। वस्तुतः इसके लिए बृहत्तर भारत शब्द की चर्चा की जाती है, जिसका तात्पर्य भारत की सीमा के बाहर विस्तृत उस भू-भाग से है जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ और जिसके अंतर्गत 1926 में कलकत्ता में ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की गयी।[1] इसी संकल्पना के आधार पर बृहत्तर भारत का विभाजन हम दो भागों में भी कर सकते हैं। प्रथम भाग के अन्तर्गत तिब्बत एवं मध्य एशिया के भाग को रख सकते हैं। द्वितीय भाग के अंतर्गत दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों को रखा जा सकता है, जिसके अंतर्गत बर्मा, श्याम, मलाया, कम्बुज, चम्पा, बाली आदि क्षेत्र आते हैं। इस द्वितीय भाग के अन्तर्गत आने वाले दक्षिण-पूर्व एशियाई देश जिनके बारे में प्राचीन भारतीय साहित्यिक रचनाओं, जैसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र, पुराण, रामायण तथा तमाम बौद्धग्रन्थों जिनमें सुत्तपिटक, खुद्दकनिकाय, मिलिंदपन्हो तथा श्रीलंका के इतिवृत, महावंश, दीपवंश और तिब्बती स्रोतों आदि में दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ क्षेत्रों को सुवर्णभूमि (सोने की भूमि), स्वर्णदीप (सोने का द्वीप) तथा यवद्वीप आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। प्राचीन यूनानी ग्रन्थों पेरीपलस ऑफ द एरीथीयिन सी और टॉलेमी की जियोग्राफी में भी इस क्षेत्र का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः दक्षिण-पूर्व एशिया एशिया के उस भाग में स्थित है जो चीन के दक्षिण तथा भारत के दक्षिण-पूर्व में स्थित है। दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के सम्बन्ध ईसा पूर्व के समय से रहे हैं और वर्तमान समय तक अनवरत जारी हैं। 1990 के दशक में लुक ईस्ट पॉलिसी को आधार बनाकर भारतीय विदेश नीति का इन सम्बन्धों को और अधिक प्रगाढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। भारत एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के सम्बन्ध अनेक उलटफेर से गुजरे हैं तथा भारतीय संस्कृति का दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृतिकरण के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। इन्हीं दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की शृंखला में एक महत्वपूर्ण देश कम्बोडिया है, जिसे प्राचीनकाल में कम्बुज, फुनान तथा खमेर नामों से समीकृत किया जाता था, जिसके भारत के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों का उल्लेख करना इस आलेख का मुख्य विषय है। कम्बोडिया के सांस्कृतिक इतिहास को समझने को लिए कम्बुज में स्थापित साम्राज्यों के कालक्रम की संक्षिप्त व्याख्या

करना अति आवश्यक है। कम्बोडिया का प्राचीन इतिहास तीन कालों में बाँटा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत तीन राज्यवंशों ने शासन किया। जिनके नाम क्रमशः (1) फुनान (प्रथम शताब्दी ई0 से 6ठी शताब्दी तक), (2) कम्बुज या चेनला वंश (550-802 ई0 तक), (3) खमेर या अंगकोर साम्राज्य (802-1431 ई. तक) हैं।

इन राजवंशों के अधीन विभिन्न राजाओं ने शासन किया। कम्बुज से भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध कब स्थापित हुए इस विषय में कोई सटीक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। लेकिन विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि ईसा सन् के प्रारम्भिक काल से यहाँ भारतीय संस्कृति का क्रमिक विकास प्रारम्भ हुआ जिनकी ठोस जानकारी हमें ईस्वी की तीसरी सदी के मध्य में काँग-ताई नामक चीनी लेखक के ग्रन्थ से प्राप्त होती है। काँग-ताई के अनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में फुनान (कम्बोडिया) में एक स्त्री का शासन था, जिसका नाम लीऊ-य था। हो फू में एक पुरुष रहता था, जिसे हुए-चेन कहते थे। स्वप्न के माध्यम से दैवीय आदेश पाकर वह फुनान के तट पर जा पहुँचा। लिऊ-य ने एक जहाज समुद्र तट पर देखा जिसे वह लूटने के लिए निकल पड़ी। हुऐन-चेन ने दैवीय धनुष से लिऊ-य को परास्त कर दिया। चीनी विवरणों के अनुसार बाद में हुऐन-चेन और लिऊ-य ने विवाह कर लिया तथा फुनान पर दोनों का संयुक्त शासन हो गया। हाँलाकि काँग-ताई का यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।[2] परन्तु इसका रिकार्ड 16वीं ईसवी शताब्दी के विश्वकोश ताई-पिंग-यू- लॉन में संरक्षित है।

कम्बोडिया के प्रारम्भिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो सर्वप्रथम फुनान साम्राज्य के बारे में जानकारी मिलनी प्रारम्भ होती है। फुनान साम्राज्य ईसा की प्रथम शताब्दी में स्थापित हुआ जो कि, दक्षिणी-लाओस, कम्बोडिया (कम्बुज), श्याम (थाइलैण्ड) और मलाया (मलेशिया) प्रायद्वीप तक फैला हुआ था। इस राज्य का वास्तविक नाम क्या था अभी भी इतिहासकारों के लिए खोज का विषय बना हुआ है परन्तु चीनी लोग इसे फुनान कहते थे।[3] हुऐन-चेन को सभी विद्वानों ने एक मत से कौंडिण्य का चीनी रूपांतरण स्वीकार किया है। हो-फू कहाँ स्थित है इस बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त नहीं है।[4] इन दोनों के संयुक्त शासन के प्रारम्भ से ही इस देश में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया प्रारम्भ मानी जाती है। हुऐन-चेन ने फुनान में सात नगर बसाये जिसका शासन स्थानीय व्यक्तियों के हाथों में था, परन्तु वे फुनान के राजा की अधीनता स्वीकार करते थे। अवसर पाकर ये शासक स्वतंत्र होने का प्रयत्न करें इससे पहले हुऐन-चेन के एक वंशज हुएन-पान हुवांग ने स्थानीय व्यक्तियों की जगह अपने पुत्रों एवं पौत्रों की नियुक्ति की।[5] फुनान का यह राज्य छठी शताब्दी तक बना रहा। छठी शताब्दी के अंत में फुनान राज्य शक्तिहीन हो गया और कम्बुज राज्य द्वारा परास्त कर दिया गया।

जिस समय फुनान का शक्तिशाली राज्य विद्यमान था उस समय कम्बुज सम्भवतः उसका एक अधीनस्थ राज्य था। तब यह शन-ला नाम से विख्यात था। कम्बुज के बक्से-शङ्-रङ् अभिलेख से ज्ञात होता है कि कम्बुस्वयंभव कम्बुज का मनु था। इससे सारे खमेर लोग उसी तरह पैदा हुए हैं, जैसे मनु से सम्पूर्ण भारतवासी। यह कम्बुज राज्य का प्रथम संस्थापक था। इसी के नाम से इस राज्य का नाम कम्बुज पड़ा। कम्बुज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथानक प्रचलित है जो कम्बुजस्वंयभव के इस तथ्य की पुष्टि करती है। ऐसी दन्तकथा प्रसिद्ध है कि कम्बुस्वयंभव कम्बुज का आदिपुरुष था। यह आर्यदेश (भारत) का राजा था। इसने कम्बुज की ओर प्रस्थान किया और वहाँ जाकर नागराज की कन्या से विवाह किया। नागराज ने अपने

प्रभाव से विशाल मरुस्थल को उपजाऊ भूमि बना दिया। इस कम्बुस्वयंभव से एक नई जाति उत्पन्न हुई। इस प्रकार सारा का सारा राज्य कम्बुज के नाम से जाना जाने लगा तथा कम्बु को कम्बुज का आदिपुरुष अथवा मनु माना जाने लगा।[6] कम्बुस्वयंभव के पश्चात श्रुतवर्मा राजा हुआ, श्रुतवर्मा के पश्चात् जितने राजा हुए, अभिलेखों में उनके बारे में श्रुतवर्ममूलः का प्रयोग किया गया है।[7] पहले कम्बुज फुनान के अधीन था। यद्यपि वहाँ अपने राजा थे जैसे कि पहले बताया जा चुका है, परन्तु वह फुनान की अधीनता स्वीकार करते थे। जिस राजा ने कम्बुज को फुनान के प्रभुत्व से मुक्त कर स्वतंत्र किया वह श्रुतवर्मा ही था। इसी वंश का एक राजा चित्रसेन महेन्द्रवर्मा के नाम से राजसिंहासन पर बैठा। चीनी विवरणों के अनुसार सम्पूर्ण फुनान की विजय इसी राजा द्वारा की गयी। आगे चलकर जयवर्मा नामक शासक हुआ, इसके समय कम्बुज दो भागों में विभक्त हो गया। स्थल कम्बुज तथा जल कम्बुज।[8]

स्थल कम्बुज कम्बोडिया के पर्वत-प्रधान उत्तरी प्रदेश के अंतर्गत था। यह एक शक्तिशाली राज्य था और चीन के साथ इसका राजनायिक सम्बन्ध था।

जल कम्बुज कम्बुज के दक्षिणी भाग में स्थित था। इसके इतिहास के सम्बन्ध में कोई सूचना चीनी विवरणों में उपलब्ध नहीं है। पर अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ अनेक राज्य कायम हो गये थे। अभिलेखों में इस क्षेत्र के तीन राज्यों के नाम उल्लेखित होते हैं, अनिन्दितपुर, शम्भुपुर और व्याघ्रपुर। यह निश्चित नहीं है कि यह राज्य एक साथ ही स्थापित थे या अलग-अलग समय में।[9]

कम्बुज के पड़ोसी श्रीविजय के शैलेन्द्रों ने कम्बुज की कमजोर परिस्थितियों का लाभ उठाया और कम्बुज को जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर यह स्थिति ज्यादा समय तक नहीं रही। नौवीं शताब्दी के प्रारम्भिक समय में यह फिर स्वतंत्र हो गया। कम्बुज की पुनः स्वतंत्रता का श्रेय जयवर्मा द्वितीय को दिया जाता है और इसे कम्बुज के इतिहास में नये युग का प्रारम्भ माना जाता है, जो लगभग 802 से 1431 ई0 तक चला। जयवर्मा द्वितीय द्वारा जिस नये युग का प्रारम्भ किया गया उसे खमेर युग के नाम से जाना जाता है तथा इतिहासकार उसे खमेर साम्राज्य के रूप में व्याख्यायित करते हैं।

खमेर साम्राज्य का नाम उसके शासकों के खमेर जातीय समूह के नाम पर रखा गया है। खमेर ने अंगकोर में (वर्तमान कम्बोडिया) में अपनी राजधानी का निर्माण किया। इसलिए इस साम्राज्य को अंगकोर साम्राज्य भी कहा जाता है। शैलेन्द्र शासकों के आधिपत्य से कम्बुज को मुक्त कराने वाले जयवर्मा द्वितीय के बारे में हमें जानकारी यशोवर्मा के एक अभिलेख (811 ई0) से प्राप्त होती है। अभिलेख के अनुसार जल कम्बुज के दो राज्य, शम्भुपुर और अनिन्दितपुर पर पुष्कराक्ष एवं रूद्रवर्मा का शासन था। जयवर्मा की नानी, पुष्कराक्ष की भाँजी थी तथा जयवर्मा का विवाह रूद्रवर्मा की भाँजी से हुआ था। यह स्पष्ट है कि माता की ओर से जयवर्मा द्वितीय का सम्बन्ध शम्भुपुर-अनिन्दितपुर के राजकुल से था। पर वह स्वयं राजकुल का था या नहीं निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु 817 ई0 के फनोम संदक से प्राप्त यशोवर्मा के अभिलेख के अनुसार जयवर्मा ने प्रजा के हित के लिए अतिनिर्मल राजवंश में जन्म लिया था। (योऽभूत् प्रजोदयायैव-राजवंशेऽतिनिर्मले) का उल्लेख मिलता है। कम्बुज पहले शैलेन्द्र शासकों के अधीन था जिन्होंने इण्डोनेशियाई क्षेत्र के जावा आदि पर आधिपत्य कर लिया था। जयवर्मा पहले जावा में रहा था जहाँ से वह कम्बुज आया, संभवतः शैलेन्द्र सम्राट द्वारा उसे कम्बुज के शासन के लिए नियुक्त किया गया पर अवसर पाकर वह वहाँ का

स्वतंत्र शासक हो गया[10] जिसके तहत विभिन्न उत्तराधिकारियों ने कम्बुज का सांस्कृतिक विस्तार किया।

कम्बोडिया में भारतीयकरण की प्रक्रिया – यहाँ पर भारतीयकरण से तात्पर्य उन बिन्दुओं से है जिनकी उपस्थिति में भारतीयता का आभास होता है। यहाँ पर भारतीयकरण शब्द दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों एवं विशेष रूप से कम्बोडिया के संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न द्वीपों एवं देशों के साथ भारत का सम्बन्ध व्यापार के प्रयोजन से प्रारम्भ हुआ था। इसी के माध्यम से लम्बे समय काल तथा विभिन्न परिस्थितियों में भारतीयों द्वारा भारतीय संस्कृति का प्रसार होता रहा।[11] दक्षिण-पूर्व एशिया के व्यापार के लिये भारत के पूर्वी तट पर अनेक बंदरगाहों के द्वारा व्यापार होता था जिनमें दंतपुर, चिन्नगंजाम तथा कावेरीपत्तन प्रमुख थे। यहाँ से जहाज विभिन्न मार्गों से मलय प्रायद्वीप पहुँचते थे। मलय प्रायद्वीप के जलडमरूमध्य के समीपवर्ती प्रदेश में अनेक बंदरगाहों की सत्ता थी, जहाँ से जहाज विभिन्न द्वीपों पर जाया करते थे।

कम्बुज में प्रथम शताब्दी से पूर्व, भारतीय सभ्यता व संस्कृति के प्रसार का क्रम क्या रहा इस बारे में हमें पुख्ता जानकारी प्राप्त नहीं होती है। प्रथम शताब्दी ईस्वी में कम्बुज में जो भारतीयकरण की प्रक्रिया रही है, उसके बारे में हमें चीनी ग्रन्थों से जानकारी प्राप्त होती है।

भारतीय सांस्कृतिक तत्वों के पहुँचने से पहले कम्बुज का सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिदृश्य क्या था इस बारे में विस्तृत जानकारी का अभाव है। परन्तु पॉल, व्हीटले, केनेथ आर0 हाल जैसे इतिहासकारों का मानना है कि - यहाँ का समाज जनजातीय था तथा वहाँ के जनजाति प्रमुखों द्वारा शासित होता था। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में भारतीय तत्वों का समागम होने लगा। इस समागम के पीछे का कारण शायद यह हो सकता है कि कम्बुज पर एक भारतवर्ष का हिन्दू राजा शासन कर रहा था, तथा इस क्षेत्र में व्यापार पूर्व की भाँति जारी रहा होगा जिससे इन व्यापारियों के साथ अनेक ज्योतिषी, चिकित्सक, साधु-संत, शिक्षक एवं धर्म प्रचारक भी गये। इन्होंने धीरे-धीरे स्थानीय लोगों से निकटता स्थापित की होगी, तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनके उत्तराधिकारी बने, जिसके कारण अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन आये होंगे। इन परिवर्तनों के कारण यहाँ के जनजीवन पर भारतीय भाषा, लिपि, साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, शासन तथा सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं में आमूलचूल परिवर्तन हुए।[12]

दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार का सटीक वर्णन बहुत ही अस्पष्ट विषय है। इतिहासकारों में इस विषय में एकमतता नहीं है। कुछ विद्वान इस बात पर बल देते हैं कि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीयता का प्रसार दक्षिण भारत से हुआ, तथा कुछ का मानना है कि भारतीयता का प्रसार पश्चिम भाग या पूर्वी तट से हुआ था। जबकि भारतीय उपमहाद्वीप के किसी एक भाग को भारतीयता के प्रसार के लिए जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस क्षेत्र में कई अलग-अलग राज्यों का शासन था तथा भारतवर्ष या भारतीय उपमहाद्वीप में अलग-अलग संस्कृतियों का प्रचलन था। यद्यपि कम्बुज में भारतीयकरण के कुछ स्पष्ट प्रमाण दक्षिण भारत से अवश्य प्राप्त होते हैं, जिसमें हम पाते हैं कि दक्षिण भारत के पल्लव राजाओं की तरह फुनान के राजा भी अपने नाम के पीछे वर्मन या वर्मा शब्द का प्रयोग करते थे। जैसे - चन्द्रवर्मा, जयवर्मा, रूद्रवर्मा। अंगकोरवाट और बेयन के मंदिरों पर दक्षिण भारत की कला का प्रभाव है, ये दक्षिण भारत की गोपुरम से बहुत मेल खाते हैं। नटराज के रूप में शिव की पूजा जो दक्षिण भारत में प्रचलित थी उसे

प्रवासी लोग कम्बुज में भी ले गये थे। वहाँ के ध्वंसावशेषों में बहुत सी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कम्बोडिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार में दक्षिण भारतीय लोगों की सक्रियता का भी अहम योगदान रहा होगा।[13]

कम्बोडिया में भारतीयकरण की प्रक्रिया पर चर्चा करने के साथ ही इस बात पर चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारतीय संस्कृति जो विभिन्न परम्पराओं से बनी है, यह भारत में कैसे विस्तारित हुई। क्योंकि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीयकरण और भारत के विभिन्न हिस्सों में फैली भारतीय संस्कृति के विस्तार में कुछ समानताएँ हो सकती हैं।

भारत के संदर्भ में संस्कृतिकरण का विचार एम.एन. श्रीनिवास ने दिया, जो इसे एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं। इनके अनुसार एक निम्न हिन्दू जाति, आदिवासी या अन्य समूह अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा को द्विजजाति की संस्कृति अथवा सभ्यता की तरह अपनाने को उन्मुख रहते हैं। अर्थात् कम्बोडिया में शासक वर्ग भारतीय परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा शासन प्रणाली को अपनाए हुए था, जिससे जन सामान्य वर्ग अपने-आपको शायद उसी प्रकार से ढालने की ओर उन्मुख रहा होगा। श्रीनिवास से पूर्व भी अन्य विद्वानों ने भारतीय समाज के इस पहलू का अध्ययन किया है। जिसमें A.C. Lyall का मत है कि आदिवासी अथवा गैर आर्यों के बीच सामाजिक परिवर्तन सदियों से चल रहा है जिसमें ब्राह्मणों द्वारा स्थापित धर्म में अन्य सभी वर्गों की गतिशीलता उपरोन्मुख रही है।

H.H. रिसले ने एक उदाहरण के द्वारा यह बताया है कि भारत में आदिवासी ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया से किस तरह गुजरे, जिसमें वह छोटानागपुर के एक आदिवासी समूह का उल्लेख करते हैं जिसमें उन्होंने आदिवासी मुखिया का जिक्र कर बताया है कि- पुरोहितों द्वारा उसको राजपूत वंशावली के होने का प्रमाण प्रस्तुत किया गया जिसके तहत एक पूरी जनजाति आदिवासी रीति-रिवाज व अपने देवताओं को त्यागे बिना ब्राह्मणवादी संस्कारों को स्वीकार कर हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो जाती है। मैक्सवेबर ने भी यही अवधारणा गुप्तों के अधीन भारत के समयकाल में अपने शोध के दौरान दी है।

उड़ीसा के शैलोद्भव आदिवासी मूल के थे तथा ऐसे कई अन्य उदाहरण भी मिलते हैं जिसमें आदिवासी समूह के राजपूत होने के दावे प्रस्तुत किये गये हैं। भारत में इस प्रकार के तमाम आदिवासी समूहों का हिन्दूकरण हुआ।[14]

इसी विषय को अगर आधार बना कर देखें तो कम्बोडिया में भी एम0एन0 श्रीनिवासन, ए0सी0 लॉयल तथा एच.एच. रिसले के सिद्धांत कम्बोडिया के भारतीयकरण की व्याख्या की पुष्टि करते हैं। इसके साथ ही मैक्सवेबर के सिद्धांत को दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीयकरण के रूप में मुख्यतः स्वीकार भी किया ही जाता है। इसी प्रकार जे.सी. वेन लेउर ने भी दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के अध्ययन में इसी सिद्धांत को मान्यता दी है तथा दक्षिण भारत में उत्तर भारत की संस्कृति के प्रसार की तुलना को आधार बनाया है।

कम्बोडियाई समाज ने जिस भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को संश्लेषित कर अपने समाज में स्थापित किया उसका प्रभाव वर्तमान समय में भी कम्बोडियाई समाज में गतिशीलता के साथ विभिन्न स्वरूपों में विद्यमान है। जिसमें वास्तुकला, धर्म, रहन-सहन, पहनावा, कला एवं साहित्य तथा खेल-क्रीड़ा में भारतीय

प्रभावों की छाप देखने को मिलती है। कम्बोडिया के पवित्र त्योहारों में आज भी रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों का मंचन एवं सांस्कृतिक प्रदर्शन धूम-धाम से होता है। कठपुतली नृत्य एवं छाया नाटक जिनकी विषय वस्तु भारतीय होती है, भी भारतीय परम्पराओं की तरह वहाँ के समाज में भी विद्यमान है जिसका सामूहिक प्रदर्शन विभिन्न जगहों पर आयोजित किया जाता है।

निष्कर्ष – कम्बोडिया एवं दक्षिण भारत का सम्बन्ध व्यापार के माध्यम से प्रारम्भ हुआ हालाँकि दोनों देशों के मध्य सम्पर्क के अन्य कारण भी थे जिसमें तमाम भारतीय तत्वों को सम्मिलित किया जाता है। प्रथम शताब्दी ई0 में भारतीयों द्वारा वहाँ राज्य की स्थापना हुई तथा वह सभी कम्बोडियाई समाज का अभिन्न अंग बन गये। इन परिस्थितियों में कम्बोडियाई कुलीन समूहों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए पुरोहितों को आमंत्रित किया और इन कुलीन समूहों को विशेष वंशावलियों, पदनाम एवं उपाधियों से संदर्भित किया। बाद के वर्षों में भारतीय धर्म, कानून तथा प्रशासन एवं संस्कृति को इन राज्यों में स्थापित किया गया। भारतीय संस्कृति क्षेत्रीय भाषाओं एवं संकेतिक संवादों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रसारित हुई। हालाँकि कम्बोडिया की राजकीय भाषा संस्कृत के रूप में ही प्रयोग की जाती थी जिसका प्रमाण वहाँ के लेखों एवं शिलापट्टों के द्वारा प्राप्त होता है। बाद के समयकाल में पालि भाषा का प्रयोग भी होने लगा तथा वर्तमान समय में कम्बोडिया में खमेर भाषा बोली जाती है जिस पर संस्कृत एवं पालि भाषा का ही प्रभाव है, जो सातवीं शताब्दी में स्थापित एक दक्षिण भारतीय पल्लव राज्य की लिपि का ही विकास है।

संदर्भ-सूची-

1. Mishra, Patit Paban, Vol. 58 (1997), Critique of Indianization Theory, Indian History Congress, p. 799.
2. विद्यालंकार सत्यकेतु, (1997), दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, श्रीसरस्वती सदन, पृ0 117-118
3. डॉ0 पाण्डेय राजबलि, (1994), प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ0 437
4. विद्यालंकार सत्यकेतु, (1997), दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, श्रीसरस्वती सदन, पृ0 118
5. वही, पृ0 118
6. Chakrabartty Lt. Col. HR, (1988), Vietnam, Kampuchea, Laos Bound in Comradeship: A Panormic Study of Indochina from Ancient to Modern Times, Vol. II, Patriot Pulishers, New Delhi, p. 431.
7. विद्यालंकार सत्यकेतु, (1997), दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, श्रीसरस्वती सदन, पृ0 123
8. Chakrabartty Lt. Col. HR, (1988), Vietnam, Kampuchea, Laos Bound in Comradeship: A Panormic Study of Indochina from Ancient to Modern Times Vol. II, Patriot Pulishers, New Delhi, p. 435.
9. विद्यालंकार सत्यकेतु, (1997), दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, श्रीसरस्वती सदन, पृ0 131
10. वही, पृ0 138-139
11. सिंह फणीश (2014), दक्षिण-पूर्व एशिया पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव, वाणी प्रकाशन।
12. Mishra, Patit Paban, (2004), A Discourse on Indo-south East Asian Relations : Prejudices, Problems and Perception, Indian-History Congress, p. 931-32.
13. एम0 पी0 सिंह रघुनाथ, (संवत 2015), दक्षिण-पूर्व एशिया (कम्बुज, थाई, बर्मा, मलाया), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृ0 20-22
14. Mishra, Patit Paban, Vol. 58 (1997), Critique of Indianization Theory, Indian History Congress, p. 804-805.

शोध छात्र, इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ0प्र0) 221005
Ph. No. : 8858955818, E-mail : anuragverma3051@gmail.com

अशोक के गुजर्रा शिलालेख में संख्या 256 : महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन की तिथि

– डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव

गुजर्रा बुन्देलखण्ड में मध्यप्रदेश के अन्तर्गत दतिया जनपद में जिला मुख्यालय से लगभग 18 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। वर्तमान में यह स्थल विकसित नहीं है, किन्तु प्राचीनकाल में यह प्रमुख मार्ग पर स्थित था जो उत्तर से दक्षिण की ओर अहिच्छत्र से मथुरा, गुजर्रा, सीयादोनी, चन्देरी, देवगढ़, विदिशा और साँची होते हुए सुदूर दक्षिण की ओर जाता था। प्रमुख मार्ग पर स्थित होने के कारण ही अशोक ने यहाँ की एक छोटी पहाड़ी पर यह अभिलेख उत्कीर्ण कराया था। ध्यातव्य है कि अशोक के प्रायः सभी अभिलेख प्रमुख मार्गों/स्थलों पर उत्कीर्ण हैं।

गुजर्रा के अतिरिक्त अहरौरा, सहसराम, रतनपुरवा, रूपनाथ, ब्रह्मगिरि, एर्रगुड़ि, सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर, गोविमठ और उडेगोलम में अशोक के लघु शिलालेख प्राप्त हुए हैं।[1] गुजर्रा और मास्की के अभिलेखों में क्रमशः ''देवानांपियस असोक राजस'' तथा ''देवानं पियसा असोकस'' उत्कीर्ण है। इससे प्रमाणित होता है कि ये सभी अभिलेख मौर्य सम्राट् अशोक के द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हैं।

इन लघु शिलालेखों में थोड़े हेर-फेर के साथ लगभग एक ही बात लिखी गयी है, जिसमें मुख्य रूप से अशोक कहता है कि ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय से मैं उपासक हूँ। इसके साथ ही संख्या 256 का भी प्रयोग किया गया है। सहसराम और रतनपुरवा शिलालेखों में यह संख्या शब्दों एवं अंकों दोनों में उत्कीर्ण है, किन्तु रूपनाथ, गुजर्रा, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिंगरामेश्वर, एर्रगुडि, गोविमठ और उडेगोलम में केवल अंकों में है, जबकि अहरौरा शिलालेख में मात्र शब्दों में ही उत्कीर्ण है-'एस सावने विवुथेन दुबे संपन्ना लाति सति अं मंचे बुधस सलीले आलोढे च'।

अशोक के लघु शिलालेख भारतीय अंकविज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इन अभिलेखों में 256 के संदर्भ में 6, 50 और 200 के चिह्न प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त केवल अंक 4 (चार) का प्रयोग अशोक के कालसी शिलालेख में किया गया है और वहाँ भी 4 के चिह्न के साथ 'चतालि' शब्द उत्कीर्ण किया गया है, ताकि स्पष्ट हो सके कि यह चिह्न ब्राह्मी का 'क' न होकर अंक 4 ही है। इस प्रकार अशोक के अभिलेखों में मात्र 4, 6, 50 और 200 के चिह्नों का प्रयोग किया गया है जो सबसे प्राचीन हैं।[2]

इन लघु शिलालेखों में 6 और 50 के चिह्न लगभग एक जैसे हैं किन्तु 200 के तीन प्रकार के चिह्न विद्यमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि लोग उसके इस विकास से परिचित थे और यह भी स्पष्ट होता है कि अशोक के पहले अंकों की एक सुविकसित परम्परा विद्यमान थी जिनसे ये अंक ग्रहण किये गये थे।[3] जहाँ तक इन अंकों के प्रयोग की बात है, यह उल्लेखनीय है कि उनका प्रयोग 'स्थान-मान सिद्धान्त' के अनुसार सैकड़ा, दहाई और इकाई अंकों का प्रयोग क्रमशः बायें से दायें को किया गया है, जिसके अनुसार क्रम से 200, 50 और अन्त में 6 का चिह्न प्रयुक्त है।

क्रम की दृष्टि से अहरौरा शिलालेख अशोक का पहला अभिलेख है।[4] इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि अशोक का राज्याभिषेक 269 ई.पू. में हुआ था। आठवें वर्ष में कलिंग युद्ध की विभीषिका से आहत होकर अशोक का मन खिन्न हो गया था। अतः शान्ति की खोज में उसने दसवें वर्ष में 'बोधगया' की यात्रा की।[5] वहाँ से वापस आने के बाद साढ़े दसवें वर्ष में उसने अभिलेख लिखवाना प्रारम्भ किया, जिसमें वह कहता है कि ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय से मैं उपासक हूँ।

इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महात्मा बुद्ध ने बोधगया में ज्ञान-प्राप्ति के बाद सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्त्तन (पहला उपदेश दिया था) किया था। उसी प्रकार अशोक भी बोधगया की यात्रा से वापस आकर साढ़े दसवें वर्ष में अभिलेख लिखवा रहा था। गौतमबुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन स्थल सारनाथ में प्रस्तर जैसा कोई ठोस आधार ;शिला एवं स्तम्भ आदि उपलब्ध नहीं था। अतः उसने सारनाथ से कुछ दूर प्रमुख मार्ग पर स्थित अहरौरा की पहाडी पर अपना पहला अभिलेख लिखवाया, जिसमें पूरा प्रकरण -'एस सावने विवुथेन दुबे संपन्ना लाति सति अं मंचे बुधस सलीले सालोढ च' उत्कीर्ण है, किन्तु अन्य लघु शिलालेखों में मात्र संख्या 256 का उल्लेख है।[6]

अशोक का गुजर्रा लघु शिलालेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि यह बुन्देलखण्ड का सबसे प्राचीन अभिलेख है। यह अभिलेख उत्तर से दक्षिण जाने वाले मार्ग को दर्शाने के साथ-साथ इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म की उपस्थिति तथा महात्मा बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्त्तन की तिथि के बारे में भी संकेत प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु संख्या 256 है जो गुजर्रा शिलालेख के साथ-साथ अन्य लघुशिलालेखों में भी प्रयुक्त है। कुछ विद्वान इसका सम्बन्ध अशोक द्वारा धर्मयात्रा की 256 रात्रि प्रवास (पड़ाव) से मानते हैं।[7] अशोक के अभिलेखों से ही प्रमाणित है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष महात्मा बुद्ध के ज्ञान-प्राप्ति स्थल बोधगया[8] और बीसवें वर्ष में उनके जन्मस्थल लुम्बिनी[9] की यात्रा की थी। इन दस वर्षों के बीच और उसके बाद भी उसने बोधगया और लुम्बिनी के अतिरिक्त अन्य स्थानों की भी यात्राएँ की होंगी। अतः कब से कब तक उसकी धर्मयात्राओं की 256 रात्रियों के पड़ाव को माना जाए ? यदि वह रात्रियों का पड़ाव था तो वह एक वर्ष के भीतर ही पूरा हो जाता है। यदि उसका सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण पड़ाव से था तो वह एक ही स्थान पर होता न कि उन सभी स्थानों पर एक साथ जहाँ-जहाँ ये अभिलेख उत्कीर्ण कराये गये हैं। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि इन 256 रात्रियों के पड़ाव के उद्देश्य के बारे में अशोक ने कुछ भी नहीं लिखवाया है, फिर भी लोगों ने 256 को उसके रात्रि पड़ाव से जोड़ दिया है। अनेक लघु शिलालेखों में संख्या 256 का उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध किसी महत्वपूर्ण घटना से है न कि धर्मयात्राओं के रात्रिपड़ाव से। यदि रात्रिपड़ाव का ही उल्लेख करना होता तो केवल 256 रात्रियों का ही अनेक अभिलेखों में क्यों चर्चा करता, उससे कम या अधिक की भी चर्चा कर सकता था।

अशोक का राज्याभिषेक 269 ई.पू. में हुआ था। उसके अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि अपने राज्याभिषेक के 10-11वें वर्ष में उसने इन शिलालेखों को उत्कीर्ण कराया था। कुछ विद्वानों ने इन अभिलेखों के 256 को घटना वर्ष मान कर इसे महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण से सम्बन्धित माना है।[10] 256 को घटना वर्ष मान कर गणना करने पर यह तिथि 515 ई.पू. (269-10+256=515) ज्ञात होती है। अतः महात्मा बुद्ध का महापरिनिर्वाण 515 ई.पू. मानना पड़ेगा जब कि उनका परिनिर्वाण 483 ई.पू. में हुआ था। अतः 256 को महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण से सम्बन्धित करने पर यह घटना मान्य तिथि से 32 वर्ष(515-483=32) पूर्व माननी पड़ेगी और महात्मा बुद्ध का जीवनकाल 80 वर्ष के स्थान पर केवल 48 वर्ष (80-32=48) ही रह जायेगा, जो नितान्त असंगत है। संख्या 256 को महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण से सम्बन्धित करने पर यह मानना पड़ेगा कि अशोक ने 227 ई.पू. (483-256=227) अर्थात् अपने राज्याभिषेक के 42वें वर्ष में अभिलेख लिखवाया, जबकि लघुशिलालेख उसके राज्याभिषेक के 10-11वें वर्ष अर्थात् 259 ई0पू0(269-10=259) में उत्कीर्ण कराये गये थे। अतः इससे अशोक के अभिलेखों के लेखन-तिथि में व्यतिक्रम होगा।

अशोक के लुम्बिनी अभिलेख के अनुसार उसने अपने राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में महात्मा बुद्ध के जन्म की चर्चा की है और वहाँ जाकर इससे सम्बंधित अभिलेख भी उत्कीर्ण कराया किन्तु उससे पहले 10-11वें वर्ष में ही उनके महापरिनिर्वाण की चर्चा परिनिर्वाण-स्थल कुशीनगर से कम से कम 250 कि. मी. दूर अहरौरा एवं सुदूर दक्षिण भारत तक के अभिलेखों में करने का उद्देश्य क्या था, पता नहीं चल पाता। यह आश्चर्य की बात है कि महात्मा बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित अशोक उनके जन्म का उल्लेख करने से पूर्व ही उनके महापरिनिर्वाण की चर्चा करने लगा था। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह मत उचित प्रतीत नहीं होता कि अशोक के लघुशिलालेखों में उल्लिखित संख्या 256 महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण की तिथि से सम्बन्धित है।

अशोक के अहरौरा शिलालेख के सम्बन्ध में डॉ0 वर्मा ने लिखा है कि अहरौरा के इस लेख में बुद्ध के अवशेषों को मंच पर स्थापित करने का उल्लेख है, जो एक महत्वपूर्ण बात है।[11] किन्तु, इस सन्दर्भ में बुद्ध के अवशेषों को मंच पर स्थापित करने की बात समझ में नहीं आती। उल्लेखनीय है कि अहरौरा में किसी स्तूप अथवा मंच का अवशेष ज्ञात नहीं होता। यदि मंच पर उनके अवशेषों को स्थापित ही करने की बात थी तो वह कहाँ किया गया था और उसके साथ संख्या 256 का क्या सम्बन्ध है? अहरौरा शिलालेख अशोक का पहला अभिलेख है जो उसके राज्याभिषेक के दसवें-ग्यारहवें वर्ष में लिखा गया था, वह भी अशोक की बोधगया की यात्रा से वापस आने के लगभग तुरन्त बाद की बात है । इस अवधि में यदि बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने बुद्ध के मूल स्तूपों को खुदवा कर उनके ऊपर चौरासी हजार स्तूपों की रचना करवायी, तो इसमें पर्याप्त समय लगा होगा। बोधगया की यात्रा के तुरन्त बाद यह संभव नहीं लगता कि महात्मा बुद्ध के अवशेषों को मंच पर सर्वत्र स्थापित कर दिया गया था, जिसका पूरा विवरण अहरौरा अभिलेख में है और अन्य अभिलेखों में मात्र संख्या 256 का उल्लेख कर दिया गया है।

अहरौरा अभिलेख में उत्कीर्ण 'मंचे बुधस सलीले आलोढे' में 'आलोढे'; आरूढेब्द्ध को बूलर ने 'आलोके' मानकर बुद्ध का महापरिनिर्वाण बता दिया था, जिसकी चर्चा डॉ राजबली पाण्डेय ने की है। इसी का अनुकरण डॉ0 ए.के. नारायण तथा डॉ0 वी. एस. पाठक आदि ने भी किया है, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। जहॉ तक अभिलेख में मंच और बुद्ध के शरीर के उल्लेख की बात है, यह बुद्ध के द्वारा मंच पर आरूढ़ होकर उपदेश देने की घटना ज्ञात होती है। क्योंकि मंच पर आरूढ़ होकर कोई व्यक्ति भाषण/उपदेश देता है, मरता नहीं है। अतः अशोक निश्चित रूप से अहरौरा अभिलेख में महात्मा बुद्ध के मंचारूढ होकर उपदेश देने की बात करता है, क्योंकि अशोक महात्मा बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित था न कि उनके जन्म अथवा महापरिनिर्वाण से। यही कारण है कि बोधगया की यात्रा से वापस आकर महात्मा बुद्ध के प्रथम उपदेश (धर्मचक्रप्रवर्त्तन) की स्मृति में सारनाथ में अशोक अभिलेख लिखवाना चाहता था, किन्तु वहाँ पर अभिलेख उत्कीर्ण कराने हेतु कोई ठोस माध्यम न होने के कारण अहरौरा की पहाड़ी पर उसने अभिलेख लिखवाया। सारनाथ में महात्मा बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्त्तन की स्मृति में बुद्ध की धर्मचक्रप्रवर्त्तन मुद्रा में गुप्तकालीन एक दुर्लभ प्रस्तर प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसमें महात्मा बुद्ध मंचारूढ़ होकर उपदेश दे रहे हैं और मंच के नीचे उनके शिष्य हाथ जोड़कर बैठे हुए हैं। अतः सारनाथ में महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन की

स्मृति में अशोक ने अहरौरा में जो अभिलेख लिखवाया है, उसमें पूरा प्रकरण है और संख्या 256 का सम्बन्ध धर्मचक्र प्रवर्त्तन की तिथि से है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के गुजर्रा एवं अन्य लघुशिलालेखों में संख्या 256 का जो उल्लेख किया गया है, उसमें यह संकेत निहित है कि जब ये अभिलेख लिखे गये थे, उसके 256 वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्तन किया था। गणना करने पर यह स्पष्ट होता है कि 515 ई.पू. (269-10+256=515) में महात्मा बुद्ध का प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन हुआ था, जिसकी चर्चा अशोक अपने लघुशिलालेखों में बार-बार कर रहा है।

परम्परानुसार महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई.पू. में हुआ था। 35 वर्ष की अवस्था में उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुआ था। सामान्यतः यह माना जाता है कि संबोधि प्राप्ति के बाद उन्होंने सारनाथ में प्रथम उपदेश दिया था। इस प्रकार 528 ई.पू. में (563-35=528) में यह घटना निर्धारित होती है, जबकि अशोक के शिलालेखों के अनुसार 515 ई.पू. ज्ञात होता है। इस प्रकार इसमें 13 वर्षों का अन्तराल है। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि संबोधि प्राप्ति और सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्तन की घटना एक दिन की नहीं हो सकती। उनमें वर्षों का अन्तराल रहा होगा। बोधगया में ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् अनुभूति, अभ्यास बोधगया से कपिलवस्तु होते हुए सारनाथ की पैदल यात्रा, शिष्यों का मिलन तथा धर्मोपदेश हेतु अनुकूल अवसर आदि में 13 वर्षों का अन्तराल एक सामान्य बात है। अतः 528 ई.पू. में ज्ञान-प्राप्ति के 13 वर्षों के बाद 515 ई.पू. में महात्मा बुद्ध का सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्त्तन अत्यधिक तर्क संगत है और यह महात्मा बुद्ध के निकटतम के अभिलेखीय साक्ष्य पर भी आधारित है।

संदर्भ –

1. हुल्त्स ई : कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द-1; पाण्डेय राजबली : अशोक के अभिलेख, वाराणसी, वि. सं. 2022; हैरी फाकय अशोकन साइट्स एण्ड आर्टिफैक्ट्सय ए सोर्स बुक विथ बिब्लियोग्राफी, 2006; थपल्याल, के. के., ए न्यू अशोकन इन्स्क्रिप्शन फ्राम रतनपुरवा, ज्ञान प्रवाह ,वाराणसी, 2009
2. श्रीवास्वत, ओम प्रकाश लाल : उत्तर भारत में अंकों का विकास, सुलभ प्रकाशन, वाराणसी, 1986, पृ0 47-48
3. वही
4. श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लालः अशोक के अभिलेखों में संख्या 256ः महात्मा बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्त्तन की तिथि 515 ईसा पूर्व, बौद्धयुगीन भारत, प्रतिभा प्रकाशन , दिल्ली, 1996, पृ0 180-183
5. अशोक का गिरनार, कालसी, शहबाजगढ़ी और धौली का आठवॉ अभिलेख।
6. पादटिप्पणी नं.4
7. पादटिप्पणी नं.1
8. पादटिप्पणी नं.5
9. अशोक का लुम्बिनी स्तम्भलेख।
10. बूलर के मत को डा. राजबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक अशोक के अभिलेख में अहरौरा अभिलेख के संदर्भ में उद्धृत किया है, पाठक वी. एस. एवं त्रिपाठी, माताप्रसाद ने राजकीय संग्रहालय गोरखपुर में दिनांक 23-24 जनवरी, 1995 में आयोजित सेमिनार में संयुक्त शोध पत्र प्रस्तुत किया था, प्रो. ए. के. नारायण ने भी वाराणसी में अपने आवास पर दिनांक 21.10.1996 को व्यक्तिगत वार्ता के समय यही मत व्यक्त किया था।
11. वर्मा, ठाकुर प्रसाद : पुराभिलेख चयनिका, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1990, पृ0 62

रजिस्ट्रीकरण अधिकारी (से.नि.)
पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति
12/1-।, मोतीलाल नेहरु मार्ग, बेलवीडियर प्रेस कैंपस,
प्रयागराज-211002 (उ0प्र0), मो0 9125049410

सूर्यमंदिर- बूड़ादीत कोटा : एक कलात्मक विश्लेषण

- डॉ. मुक्ति पाराशर, कला इतिहासकार

''नमो-नमो वरेण्याय वरदायांशुमालिने।
ज्योतिर्मय नमस्तुभ्यंऽनन्तायाजिताये ते।।''
त्रिलोक चक्षुषे तुम्यं त्रिगुणायामृताय।
नमो धर्माय हंसाय जगज्जननहेतवे।।

असंख्य किरणों से सुशोभित होने वाले अंशुमाली। आप वर देने में पूर्ण समर्थ एवं ज्योति स्वरूप हैं। आपके स्वरूप का कोई अंत नहीं है इसलिए आपका नाम अनंत भी है। किसी से भी पराजित ना होने वाले अजित भगवान! इनको बार-बार प्रणाम।। सूर्यदेव त्रिलोक चक्षु और श्रीविग्रह त्रिगुणात्मक हैं। धर्म व हंस नाम द्वारा सुशोभित यह संसार की सृष्टि के कारण भी हैं।

यह ज्ञान के भंडार सहित सात अश्व पर सजे रथ पर आरूढ़ रहते हैं। भूः, भुवः, स्वः व्याहति स्वरूप सूर्य त्रिलक्ष, हरित बाहू और हर्यश्र नाम से अर्चित हैं तथा यह सतत गतिशील हैं। एक लक्ष्य, विलक्ष, बहुलक्ष, एक संस्थ, द्विसंस्थ, बहुसंस्थ और दण्डी आदि नाम उनके पर्यायवाची हैं। रवि एक परमेष्ठि संज्ञा से सुशोभित सूर्य में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव सम्मिलित हैं।

ॐ आदित्याय नमः। (कल्याण सूर्यांक) - सौर पुराण

वेदों में सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है। सूर्य से ही पृथ्वी पर जीवनचक्र चल रहा है और यह सर्वमान्य सत्य है। सूर्य का शब्दार्थ है सर्वप्रेरक, सर्वप्रकाशक, सर्वप्रवर्तक व कल्याणकारी। यजुर्वेद ने ''चक्षो सूर्या जायतः'' कहकर सूर्यदेव को भगवान का नेत्र माना है। छान्दोग्योपनिषद में सूर्य को प्रणव निरूपित कहकर उनकी ध्यान साधना से पुत्र प्राप्ति का लाभ बताया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तो सूर्य को परमात्मा स्वरूप मानता है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र सूर्यपरक है। सूर्योपनिषद की श्रुति के अनुसार संपूर्ण जगत की सृष्टि तथा उसका पालन सूर्य द्वारा ही होता है।

पहले सूर्य उपासना मंत्रों द्वारा होती थी फिर बाद में मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ तो यत्र-तत्र सूर्य मंदिरों का निर्माण हुआ। भविष्य पुराण में ब्रह्मा और विष्णु के मध्य संवाद में सूर्यपूजा और सूर्य मंदिर का महत्व समझाया गया है।

सूर्य की उत्पत्ति के बारे में अनेक पुराणों में कई आख्यान मिलते हैं। उनमें से एक जगह बताया गया है कि ऋषि दुर्वासा के श्राप से श्रीकृष्ण पुत्र साम्ब जो कि कुष्ठ रोग से पीड़ित थे, उन्होंने अपने श्राप व रोग से मुक्ति पाने के लिए सूर्यदेव की आराधना की थी। मार्कंडेय पुराण के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ॐ प्रकट हुआ, वही सूर्य का प्रारंभिक सूक्ष्म स्वरूप माना गया और रोशनी प्रकट हुई फिर भूः, भूवः तथा स्व शब्द उत्पन्न हुआ। यह तीनों शब्द पिंड रूप में ॐ में विलीन हुए तो सूर्य को स्थूल रूप मिला। सृष्टि के प्रारंभ में उत्पन्न होने के कारण ही इन्हें आदित्य नाम से पुकारा जाता है। एक अन्य कथा में ब्रह्माजी के पुत्र मरीचि के पुत्र कश्यप दक्ष की कन्या अदिति व दिति के घर पर सूर्यदेव पुत्र रूप में जन्मे।

प्राचीनकाल से ही भारत ही नहीं वरन् विश्व में अन्य जगह भी सूर्य उपासना के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। हाल ही में मिस्र में सूर्य मंदिरों का पता लगा है। यहाँ सूर्य की उपासना ''रा'' नाम से ई. पूर्व में मिस्र के पांचवें राजवंश में की जाती थी।

मेक्सिको का सूर्य मंदिर प्लांक मेक्सिको में गीजा के पिरामिड में स्थित है। नवी शताब्दी में ग्वाटेमाला में स्थित पांचवीं शताब्दी में बने टेंपल ऑफ नाइट सन का अवशेष है।

चीन के बीजिंग में 1500 ईस्वी में मियांग राजवंश के समय सूर्य मंदिर बने। 710 ईस्वी में निर्मित जापान में शीन्टो श्राइन टेंपल है। अमेरिका के कोलोरोडो नेशनल पार्क के अंदर 1275 ईस्वी में बनाया सूर्य मंदिर है। पाकिस्तान के मुल्तान में भी दसवीं शताब्दी का सूर्य मंदिर है।

सूर्य भगवान की मूर्ति में उनके अस्त्रों में सूर्यास्त, सुदर्शन चक्र, गदा ,कमल दंड, शंख, त्रिशूल व जूते पहने हुए बनाया जाता है। कई जगह इन्हें इनकी जीवनसाथी संज्ञा देवी व छाया देवी के साथ भी निर्मित किया गया है। कोणार्क मंदिर में सूर्य को प्रातः, दिन व संध्या में बदलते रूप में अर्थात् कुमार, प्रौढ़ व बुजुर्ग यानी उदयाचल, मध्याचल तथा अस्ताचल के रूप में बनाया गया है। इनकी सवारी सप्त अश्वों द्वारा खींचता हुआ रथ है। अरुण देव सारथी रूप में बनाए जाते हैं। इनके मंदिर पूर्वमुखी बनाए जाते हैं, किंतु बिहार में एक सूर्यमंदिर है जो पश्चिममुखी बना हुआ है। इसे देवार्क के नाम से जाना जाता है। यह आठवीं शताब्दी में निर्मित गुप्तकालीन मंदिर है। इसके लिए कहा जाता है कि यह साम्ब के द्वारा निर्मित 12 सूर्य मंदिरों में से एक है। इसके अतिरिक्त देवमाता अदिति ने यहाँ तेजस्वी पुत्र के लिए आराधना की थी। यह देश के प्रसिद्ध तीन सूर्य मंदिरों में से एक है। देवार्क, लोलार्क (वाराणसी), कोणार्क(उड़ीसा)। यह मंदिर पत्थर से निर्मित नागर व द्रविड़ दोनों शैली का मिश्रित रूप है। इन्हीं सब में भारत के राजस्थान प्रदेश के हाडौती संभाग के कोटा जिले में सुल्तानपुर के निकट स्थित एक सूर्य मंदिर है। इसी के नाम पर गाँव का नाम भी वही है। यह है बुड़ादीत का सूर्यमंदिर।

बूड़ादीत सूर्य की संध्याकाल की अस्ताचल मूर्ति होने के कारण इसे बूड़ादीत कहा गया है। पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा यह मंदिर 9वीं से 11वीं शताब्दी के मध्य का माना गया है किंतु जब इसका सर्वेक्षण किया गया तो यह मंदिर दसवीं से 11वीं शताब्दी के मध्य परमारकालीन मंदिर ज्ञात हुआ है। यह पूर्वाभिमुख मंदिर है। इस मंदिर पर दो शिखर निर्मित हैं। एक शिखर मंदिर के गर्भगृह पर तथा दूसरा सभामंडप पर निर्मित है। गर्भगृह वाला शिखर प्राचीन है एवं हाड़ौती में प्राप्त नागर शैली के अन्य मंदिरों से साम्यता रखता है। हालांकि सभामंडप पर भी प्राचीन शिखर था किंतु 17वीं शताब्दी में मुगल आक्रांताओं द्वारा इसे नष्ट कर दिया गया था। 18वीं सदी में कोटा के दरबार की मनोकामना पूर्ण होने पर इसके सभामंडप का शिखर बनवाया गया जो नवनिर्मित लगता है। यह मंदिर एक तालाब के किनारे स्थित है। यहाँ एक कुंड भी है। पूर्वाभिमुख यह मंदिर भगवान सूर्य को समर्पित है। मंदिर के गर्भगृह का आंतरिक छत का भाग हाड़ौती के अन्य मंदिरों बनियानी, बास्थुनी, मानस आदि मंदिरों से समता रखता है। यहाँ छत के पत्थर चतुष्कोणीय व अष्टकोणीय रूप में लगे हुए हैं। प्रारंभ में यहाँ सूर्य की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित थी, फिर पत्थर की बनी एवं वर्तमान में यहाँ संगमरमर पत्थर की प्रतिमा बनी हुई हैं। इस मंदिर के प्रांगण में कई जीर्ण-शीर्ण मूर्तियाँ पुरातत्व के संरक्षण में रखी हुई है। यह पंचायतन शैली में नागर शैली का मंदिर है। यहाँ सभामंडप पर कमलनुमा गोल शिखर पर एक कलश स्थित है। मंदिर के मुख्य मंडप के दोनों ओर में बने छज्जेदार गवाक्ष आंतरिक व बाहरी भागों में संतुलन स्थापित करते हैं।

वर्तमान में शिखर पर सफेद चूना पोत कर प्राचीनता को खराब कर दिया गया है। मंदिरों का कई बार व कई जगह जीर्णोद्धार किया गया है। शिखर पर आमलक के ऊपर कलश बनाया गया है। स्तूपिका पर श्वेत झंडा हमेशा लहराता रहता है और शिखर पर ऊपरी भाग पर ज्यामितीय अलंकरण बने हुए हैं।

गर्भगृह के बाहरी भाग के आलों में कई मूर्ति शिल्प उत्कीर्ण हैं। सभामंडप ऊपर से गोलाकार बने हुए हैं व नीचे चौकोर निर्मित हैं। यह कई सारे स्तंभों पर टिका हुआ है। मंदिर में उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, ब्रह्मा-सावित्री एवं गणेश, रेवती-बलराम तथा कार्तिकेय सभी को अपनी पत्नियों के साथ बनाया गया है। साथ में सूर्य को भी उकेरा गया है। इनके अलावा शिव-पार्वती ,भैरव व कई सुंदरियों की मूर्तियाँ भी यहाँ पर उकेरी गई हैं। सुंदरियों को विभिन्न अवस्थाओं में जैसे दर्पण में मुख देखते, कांटा निकालते, सलिल क्रीड़ा करते, अंगड़ाई लेते हुए बहुत ही सुंदर व छरहरे शरीर में उकेरा गया है। मंदिर को गर्भगृह, अर्धमंडप व अंतराल मंडप में विभाजित कर बनाया गया है। गर्भगृह के द्वार पर बाहर की ओर सप्त रथ पर सूर्य, गरुड़ पर विष्णु व नंदी पर उमा-महेश्वर उत्कीर्ण हैं। यहाँ अग्निदेव, यम एवं दरवाजे के बाहर दिक्पाल का अंकन है। यहाँ मूर्तियाँ उकेर कर बनाई हुई हैं। इंद्र व वरुण की मूर्तियों के साथ नवग्रहों का अंकन भी उनके आयुधों के साथ बनाया गया है।

यहाँ अश्वारूढ़ व गजारूढ़ मूर्तियाँ भी अंकित हैं। संपूर्ण मंदिर की बाहरी भित्ति पर सुंदर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। हालांकि यहाँ कई मूर्तियाँ टूटी-फूटी हुई मंदिर प्रांगण में रखी हुई हैं किंतु उनमें सौंदर्य अभिव्यक्ति में कोई कमी नहीं है। मंदिर के नीचे की तरफ ही मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं शिखर पर कोई मूर्ति नहीं है, केवल चार शेर बने हुए हैं, जो चारों दिशाओं में बनाए गए हैं। शिखर मूर्तिविहीन है। यहाँ देवी सरस्वती एवं गणेश भी मंदिर के अंदर कई जगह अंकित हैं। यह मंदिर हाड़ौती क्षेत्र के कई कलात्मक मंदिरों में से एक है। मंदिर प्रांगण में चार से पांच फीट का एक स्तंभ है जिसके ऊपरी भाग पर गणेश की मूर्ति उत्कीर्ण है। एक दीवार पर मस्जिद जैसी कोई आकृति बनी है जो संभवतः बाद में बनाई गई है। यहाँ शंकर की मूर्ति भी है। मंडप की छत, जो गोलाकार है, के मध्य में पुष्पदल उत्कीर्ण है। मंदिर के बाहर की ओर ताकों में कई मूर्तियाँ बनी है। कई देवी प्रतिमाएँ स्थानक मुद्रा में तो कोई पद्मासन में बैठी हुई बनाई गई हैं। बाहर की ताक में अश्वों पर सवार सूर्य प्रतिमा का अंकन है, जो पद्मासन में किरीट मुकुट धारण किए हुए हैं। युगल मूर्तियाँ भी यहाँ पर यत्र-तत्र उत्कीर्ण हैं। यह स्थान निर्गुण एवं सगुण उपासना का संगम है। इसे राजस्थान का कोणार्क भी कहते हैं। यहाँ अखंड ज्योति जलती है और यहाँ पर आंखों की ज्योति को बढ़ाने के लिए दर्शन हेतु भक्तगण आते हैं और दाल, बाटी, चूरमा का भोग लगाते हैं। यह मंदिर हाड़ौती क्षेत्र के मुख्य मंदिरों में एक विशेष स्थान रखता है।

अन्त मे देखें तो सूर्य उपासना के विषय में यह माना गया है की शाकलद्वीपी ब्राह्मणों के भारत आगमन से सूर्य की उपासना में तेजी होने लगी। छठी शताब्दी से यहाँ सूर्यपूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। इतिहासकार डॉ.ओझा का कहना है कि 600 से 1400 ईस्वी में सिरोही राज्य में कोई भी ऐसा गाँव नहीं था जहाँ खंडित सूर्यमंदिर की प्रतिमा ना हो। अतः विज्ञान की दृष्टि से देखें तो यह सूर्य केवल एक जी टाइप का अनुक्रम तारा है।

- 164, आर्य समाज रोड़, रामपुरा
कोटा (राजस्थान)-324001
मो. : 9829106356

टोंक के मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अरबी फारसी शोध संस्थान में संग्रहित मुगलकालीन ग्रंथों का अलंकारिक सौंदर्य

- शोधार्थी : रुकैया खानम्
शोध निर्देशिका : डॉ. तनूजा सिंह

सारांश :- टोंक में स्थित मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अरबी फारसी शोध संस्थान में मुगलकालीन ग्रंथों का एक विशेष भण्डार देखा जा सकता है, जो कलाप्रेमियों के लिए जिज्ञासा का विषय है। यह संस्थान प्रारम्भ में एक पुस्तकालय था जिसका आरम्भ मोहम्मद अली खां बहादुर ने अपनी नज़रबंदी के समय बनारस में किया व इसका स्थानान्तरण टोंक में इनके पुत्र साहिबज़ादा अब्दुर्रहीम खां ने किया। विश्व के कोने-कोने में विद्वान व राजदूत भेज कर अनुपम ग्रंथों की प्रतियाँ मंगवाई गई। धीरे-धीरे यह विशाल भण्डार एकत्रित हुआ। यहाँ संग्रहित मुगलकालीन ग्रंथ अलंकरण सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं जिनमें कला के तत्व व सुलेखन कार्य का सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

मुख्य शब्द :- टोंक , शोध संस्थान, पुस्तकालय, अलंकरण, कला के तत्व, सुलेखन।

सांस्कृतिक धरोहर से राज्य के जिलों की पहचान होती है, वहाँ के इतिहास की साक्षी होती है, जैसे आगरा का ताजमहल, चित्तौड़गढ़ का विजयस्तंभ, जयपुर का हवामहल, उसी प्रकार टोंक की सांस्कृतिक धरोहर वहाँ का मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अरबी फारसी शोध संस्थान है जहाँ ज्ञान का विशाल भण्डार समाहित है। यह ज्ञान का खज़ाना भारत व अन्य देशों के इतिहास का प्रमाण है।

यह संस्थान ऐतिहासिक, प्राच्यविद्या, इस्लामी अध्ययन, सूफीवाद, उर्दू, अरबी- फारसी साहित्य, सुलेखन कला, दर्शनशास्त्र पर आधारित अपनी पाण्डुलिपियों के लिए दुनिया में जाना जाता है। इस संस्थान में 8053 दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथ, 27785 मुद्रित पुस्तकें, 10239 कदीम रसाइल, 674 फरामीन एवं भूतपूर्व रियासत टोंक के महकमा शरीअत के 65000 फैसलों की पत्रावलियों के अतिरिक्त हजारों अनमोल अभिलेख, प्रमाणपत्र, तुगरे और वसलियाँ उपलब्ध हैं।

इस पुस्तकालय को सबसे पहले नवाब मोहम्मद अली खां बहादुर ने अपनी नज़रबंदी के समय में बनारस में शुरू किया था। उन्हें पुस्तकें एकत्रित करने की रूचि नज़रबंदी के समय से पहले ही थी व उन्होंने कई पुस्तकें प्रकाशित करना टोंक में आरम्भ कर दिया था। जब यह बनारस जा रहे थे उस समय वह अपनी पुस्तकों को टोंक से बनारस ले गए और वहाँ अपने संग्रह का और अधिक विकास किया। मक्का, मदीना, मिस्र, ईरान तथा विश्व के कोने-कोने में विद्वान व राजदूत भेजकर अनुपम ग्रंथ या उनकी प्रतियाँ मंगवाई तथा स्वयं ने भी लिखने-लिखवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। यह पुस्तकालय नवाब साहब के पुत्र साहिबज़ादा अब्दुर्रहीम खां साहब को अपने मृतक पिता की ओर से पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिला जिसको टोंक में स्थानांतरित करके इसमें और अधिक विकास किया गया (खाँ, 42)।

1961 ई. में राजस्थान सरकार ने सईदिया पुस्तकालय के समस्त ग्रंथों को नए संस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में स्थानांतरित कर दिया, जिसमें पुस्तकालय अध्यक्ष के पद के रूप में साहिबज़ादे शौकतअली खां की नियुक्ति की गई। यह कार्य स्वर्गीय मौलाना आज़ाद योजना के अंतर्गत किया गया था।

राजस्थान सरकार ने अलग से नए भवन का निर्माण किया जहाँ ग्रंथों की सुरक्षा हेतु आधुनिक संसाधन उपलब्ध हैं। सन् 1989 ई. में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद समारोह के दौरान राज्य सरकार ने इस संस्थान को मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अरबी फारसी शोध संस्थान का नाम दिया।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अरबी फारसी शोध संस्थान में मुग़लकालीन ग्रंथों का विशेष संग्रह संग्रहित है जिनका अलंकारिक सौन्दर्य आकर्षण का विषय है। इस संस्थान में हमें अरबी व फारसी दोनों भाषाओं में मुग़लकालीन ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न आलेखन व अलंकरण देखने को मिलते हैं व इनके सौंदर्य को हम कला के तत्वों व सुलेखन के माध्यम से समझ सकते हैं।

खत्ताती (सुलेखन) :- अक्षरांकन को उर्दू में खत्ताती कहते हैं। खत्ताती शब्द खत से निकला है और खत का अर्थ होता है लिखना। खत्ताती कला का प्रारम्भ अरबी भाषा से हुआ। अरेबिक अक्षरांकन की पांच शैलियाँ हैं।

(1) नस्ख (2) नस्तालिख (3) मुहक़्क़ाक़ (4) सुलुस या तुलुत (5) रूकआ (sakkal design)।

मुग़लों के काल में सुलेखन का विशेष रूप से विकास हुआ। अकबर, जहांगीर, शाहजहां, दाराशिकोह, शाहसुजा, औरंगज़ेब, जिब-अल नेसा बेगोल, मोहम्मदशाह और बहादुरशाह द्वितीय सहित मुगल शासकों और राजकुमारों ने ना केवल सुलेखन को संरक्षण दिया बल्कि कुछ मामलों में स्वयं इसका अभ्यास भी किया।

मुग़लकालीन ग्रंथों में नस्ख व नस्तालिख लिपि के उदाहरण विशेष रूप से देखे जाते हैं। सम्राट अकबर के गुणग्राह्यता तथा कलाभिज्ञता के कारण भिन्न-भिन्न लिपियों की बहुत उन्नति हुई, नस्तालिख लिपि का विशेष प्रचलन हुआ। जिस मनमोहक सुलेखक ने राज सिंहासन की छत्रछाया में उच्चतम ख्याति प्राप्त की उसका नाम मोहम्मद हुसैन कश्मीरी था जो 'ज़री कलम' की उपाधि से संसार में विख्यात है (फजल 102)।

नस्ख लिपि का उदाहरण हमें संस्थान में औरंगज़ेब द्वारा हस्तलिखित कुरान के रूप में मिलता है। नस्ख लिपि में गोल व सीधी रेखाएं होती हैं (फज़ल 100)। औरंगज़ेब द्वारा लिखित इस कुरान में ये रेखाएं देखी जा सकती हैं जो नस्ख लिपि में लिखी गयी हैं। औरंगज़ेब ने इसमें व्याख्या भी की है जिसे मूल कुरान के अक्षरों की तुलना में बहुत छोटा बनाया गया है। इन पृष्ठों में सुलेखन के लिए काले रंग का प्रयोग किया गया है परन्तु कहीं-कहीं लाल रंग का भी प्रयोग किया गया है जो बहुत सुंदर प्रतीत होता है।

कला के तत्वों के आधार पर वर्गीकरण :-

कला के तत्व - 1.रेखा 2.रूप 3.रंग 4.तान 5.पोत 6.अंतराल।

रेखा :- रेखाओं का भारतीय चित्रकला में मुख्य स्थान है। रेखा का स्थान चित्रकला में रंग व रूप से पहले आता है, क्योंकि रेखाओं से ही रूप का निर्माण होता है। इस संस्थान में संग्रहित तुजुक ए जहांगीरी में अत्यंत तरंगमय व वक्राकार रेखाओं का प्रयोग किया गया है। रेखाएं प्रवाहमय हैं और रेखाओं में बल व गति समान रूप से दृष्टव्य है। प्रवाह व लयात्मक रेखाओं से पुष्पों की लताओं का अंकन करते हुए चित्रतल को ऊर्ध्व व क्षैतिज रेखाओं के प्रयोग से विभाजित किया गया है। इसी प्रकार इकबालनामा ए जहांगीरी में हाशिये के अलंकरण में अखण्डित लहरदार रेखा का प्रयोग कर पुष्पलता का निर्माण हुआ है

चित्र संख्या 1 : इकबाल नामा ए जहांगीरी

तथा रेखाओं में लयात्मकता का गुण विद्यमान है।

अल कुरआन में हमें ऊर्ध्व, क्षैतिज, घुमावदार व लहरदार रेखाओं का प्रयोग मिलता है। ग्रंथ में बहुत सूक्ष्म रेखाओं से प्राकृतिक सौंदर्य का अंकन अंतराल के रिक्त स्थानों को भरने में हुआ है। हाशिए को बहुत सरल रूप में ऊर्ध्व व क्षैतिज रेखाओं से अंकित किया गया है तथा इसके बीच में एक दिल के समान पत्तियों की एक पंक्ति निर्मित हुई है। इस ग्रंथ के हाशियों की एक और विशेषता यह भी है कि हाशिए में सूक्ष्म अक्षरों को इस तरह व्यवस्थित किया गया है कि हाशिए में कर्णवर्त रेखाओं का आभास प्रतीत होता है। कुरआन की मुख्य भाषा को व्याख्या से अलग करने के लिए लहरदार रेखाओं का प्रयोग हुआ है। कपड़ों पर रेखाओं के आयोजित हुए संतुलित प्रयोग सराहनीय हैं।

रूप :– आदिकाल से मानव रूपों के माध्यम से अभिव्यक्ति करता आ रहा है। प्रारंभ से आज तक रूपों में इतनी विविधता दिखाई देती है कि उनका आकलन करना असम्भव है। इस संस्थान के मुग़लकालीन ग्रंथों के भंडार में मानवाकृतियों का बहुत कम चित्रण देखने को मिलता है परन्तु अबुल फ़ज़ल द्वारा लिखित अकबरनामा में हमें चित्र दृष्टिगत होते हैं जिनमें दरबारी दृश्य में अकबर को दरबार में आसनारूढ चित्रित किया गया है। अकबर के सिर पर मुगलकालीन पगड़ी है तथा दरबारी नीचे ज़मीन पर बैठे हैं तथा अकबर के पीछे एक सेवक का चित्रण हुआ है जो तुलनात्मक रूप से छोटा अंकित किया गया है। सभी के मुख मुगल शैली की विशेषताओं के अनुकूल बनाए गए हैं।

शाहनामा के प्रदर्शित पृष्ठों के चित्र में हमें तीन घोड़ों के साथ दो व्यक्तियों का अंकन मिलता है। आकृतियों की बारीकियाँ दृश्यमान नहीं हैं परन्तु एक आकृति का नारंगी वस्त्र व सफेद पगड़ी राजा के समान प्रतीत हो रही है तथा दूसरी आकृति की ऊँची टोपी तथा हाथ में घोड़ों की रस्सियाँ घोड़ों के संरक्षक के समान प्रतीत हो रही है। चित्र में घोड़ों के पैर, गर्दन व मुख पतला व शरीर हष्टपुष्ट है। घोड़ों का पेट व पीछे का भाग अनुपात से अधिक मोटा बनाया गया है तथा घोड़ों की मुखाकृति भी कुछ बिगड़ी हुई प्रतीत होती है। मानवाकृतियों के मुख दो चश्म बने हैं तथा संरक्षक का मुख राजा के मुख से छोटा बना है।

चित्र संख्या 2 : अकबरनामा

चित्र संख्या 3 : शाहनामा

रंग :- चित्र में वर्ण सामंजस्य का विशेष महत्व है। चित्रकार भाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रंगों का प्रयोग करता है तथा रंगों के माध्यम से आकृतियों में विविधता दिखाई जाती है। वर्ण नियोजन करते हुए कलाकार या तो बाह्य यथार्थ के आधार पर या कलाकार अपने मनोभावों के अनुसार रंगों का प्रयोग करते हैं, जिसमें प्रतीकात्मकता लक्षित होती है।

संस्थान में अलंकरण के सौंदर्यपूर्ण ग्रंथ का उदाहरण जवाहीर उत तफसीर है। कलात्मक विशेषताओं से परिपूर्ण इस ग्रंथ में विशेष रूप से नीले व स्वर्ण रंगों का प्रयोग हुआ है। नीली व सुनहरी पृष्ठभूमि पर लताओं के समान अलंकरण से सुसज्जित किया गया है। इन लताओं पर लाल, सफेद, हल्के नीले रंगों से पुष्प सजे हुए हैं। कलाकार ने संपूर्ण पृष्ठ को रंगों से ऐसे सजाया है कि पृष्ठ के किनारों के अतिरिक्त कहीं भी पृष्ठ की मूल भूमि दिखाई नहीं देती। केन्द्र में सुनहरी पृष्ठभूमि पर काले रंग से सुलेखन हुआ है तथा इसके ऊपर व नीचे स्थान में सुनहरी पृष्ठभूमि पर सफेद रंग से अलंकरण किया गया है। हाशिए को अंतिम रूप देते हुए पृष्ठ की मूल सतह पर नीले रंग से अलंकरण किया गया है।

चित्र संख्या 4 : जवाहीर उत तफसीर

औरंगज़ेब द्वारा हस्तलिखित व अलंकृत कुरान अल करीम में मुग़लकालीन वर्ण योजना के अनुरूप कोमल रंग संगति से निर्मित यह ग्रंथ अत्यंत शांत भाव की अनुभूति कराता है। पृष्ठ में गहरा हरा, गहरा नीला, काला, सुनहरी व गहरे लाल के साथ कहीं सफेद व हल्के नीले रंग का प्रयोग हुआ है। हाशिए को लाल, नीले व सुनहरी रंग से सीमाबद्ध किया है एवं काले व सफेद अलंकरण से सजाया गया है। औरंगज़ेब द्वारा हस्तलिखित एक और कुरान में केवल आरम्भ के दो पृष्ठ सुसज्जित एवं अलंकृत हैं जिसमें से एक पृष्ठ का आधा भाग लुप्त है। इस कुरान में स्वर्ण व नीले रंग का प्रयोग हुआ है तथा काले वर्ण से सूक्ष्म अलंकरण निर्मित किए गए हैं।

तान :- हल्के व गहरे बलों में प्रकाश की मात्रा तथा श्वेत से काले रंग की क्रमबद्धता तान कहलाती है। तान किसी भी चित्र में प्रयुक्त वर्ण संयोजन का प्राण होती है। तान का सीधा सम्बंध प्रकाश से है। इकबाल नामा-ए-जहांगीरी ग्रंथ को हल्की व गहरी तानों की संगति से सुसज्जित किया गया है। पृष्ठ पर हल्के गुलाबी, हल्के नीले, सफेद, काले, लाल व नीले रंग के साथ-साथ सुनहरी रंग का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। हल्के नीले व हल्के गुलाबी रंगो से पुष्पों का अंकन करते हुए इसकी बाह्य रेखा गहरे नीले व गहरे

गुलाबी रंगों से बनाई गई है तथा पत्तियों को हल्के हरे रंग से बनाया गया है।

चित्र संख्या 5 : इकबाल नामा ए जहांगीरी

अकबरनामा ग्रंथ में चित्रित पृष्ठ में भी हमें विभिन्न तानों का प्रयोग मिलता है। तान के प्रयोग में मुख्यतः रंगीन संयोजन को देख सकते हैं। कलाकार ने कुछ दरबारियों को नीचे गहरे नारंगी कालीन पर बैठा हुआ दिखाया है तथा दरबारियों के वस्त्रों को हल्के नारंगी रंग से बनाया गया है। यही गहरे और हल्के नारंगी तानों का संयोजन हमें छतों के अलंकरण में भी दिखाई देता है। इसी प्रकार अकबर के सिंहासन को गहरे भूरे रंग से बनाया गया है तथा कालीन हल्के भूरे रंग से बनाया गया है तथा सिंहासन पर अकबर के पीछे रखे तकिए को लाल रंग से व अकबर के वस्त्रों को नारंगी रंग से बनाया गया है। पेड़ में भी पीले व हरे रंग की तान का प्रयोग किया गया है।

पोत :- किसी भी धरातल के दृश्य या स्पर्शनीय गुण को पोत कहते हैं। इसको वयन पोत अथवा बुनावट कहा जाता है। अतः प्रत्येक वस्तु में अंतर पोत के माध्यम से किया जाता है। कलाकार इस गुण को अपनी कलाओं के दृश्य माध्यम में उतार लेता है। महाभारत ग्रंथ में प्रदर्शित पृष्ठों में से एक पृष्ठ के ऊपरी भाग को चित्रित किया गया है जिसमें हम अनुकृत पोत के उदाहरण देख सकते हैं। मध्य में बने डिजाइन में पारदर्शी भूरी पृष्ठभूमि पर पुष्पों, लताओं व कलियों की अनुकृति के आधार पर पोत का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार नीली पृष्ठभूमि पर सफेद रंग से लताओं का डिज़ाइन बनाया गया है। पृष्ठ में रंग की विभिन्न रंगतों द्वारा चाक्षुष पोत उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

चित्र संख्या 6 : अखलाक-ए-नासिरी

संस्थान के अखलाक-ए-नासिरी ग्रंथ, जिस पर शाहजहां के दरबारी अब्दुर्रज़्ज़ाक खान के पुत्र मीर अब्दुर्स्सलाम खां दिलावर जंग द्वारा लिखित टिप्पणी पाई जाती है। इस ग्रंथ के हाशिए में हम पुष्पों,

लताओं से डिज़ाइन में पोत को देख सकते हैं। आरंभिक पृष्ठ के ऊपर रंग-बिरंगे छोटे-छोटे फूल पत्तियों का आभास प्रदर्शित किया गया है, जो बहुत सुंदर प्रतीत होता है।

अन्तराल :- चित्रकार जिस भूमि पर चित्रांकन कार्य करता है, वह स्पष्ट तथा द्विआयामी होती है, वही अन्तराल या स्थान कहलाता है। अन्तराल पर एक भी बिन्दु रचते ही अंतराल में क्रिया-प्रतिक्रिया तथा संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। चित्र भूमि पर रेखा अंकित करते ही वह दो भागों में विभाजित हो जाती है। यह विभाजन दो प्रकार का होता है।

(1) सम विभाजन (2) असम विभाजन

अरबी फारसी संस्थान में संग्रहित मुग़लकालीन ग्रंथों में हमें मुख्य रूप से सम विभाजन देखने को मिलता है। ग्रंथों में सुलेखन कार्य के लिए कलाकार ने अन्तराल को कभी चार भागों में व कभी दो भागों में विभक्त किया है तथा कभी पृष्ठ में हाशियों को छोड़ सम्पूर्ण अन्तराल में सुलेखन किया गया है। मुग़लकालीन मुख्य विशेषताओं में से एक हाशिए का चित्रांकन है, जिन्हें हम इन ग्रंथों में भी देख सकते हैं। यहाँ के ग्रंथों में मुख्यतः हाशिए मिलते हैं परन्तु कुछ में हाशियों का निर्माण नहीं हुआ। ऐसे ग्रंथों में हाशिए के स्थान को रिक्त छोड़ा गया है।

आकृति निर्माण यहाँ पर केवल अकबरनामा में मिला है, जिसके चित्र में कलाकार ने पृष्ठ को समानता से विभाजित करते हुए मध्य में चित्र का अंकन किया है। इस चित्र में अकबर के दरबारी दृश्य का अंकन है। सम्पूर्ण अन्तराल को क्षितिज रेखाओं से तीन भागों में विभक्त किया गया है। आकाशमय नीली पृष्ठभूमि पर दरबारी इमारत व पेड़ का अंकन हुआ है। मध्य में हमें अकबर, दो दरबारी व सेवक का अंकन मिलता है। इन तीनों आकृतियों को ऊपर व नीचे बनाकर अन्तराल में सौन्दर्य उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। अग्रभूमि में दो दरबारियों का अंकन हुआ है। इन दरबारियों की आकृति निर्माण में अपाच्छादित तल का प्रयोग किया गया है।

इस संस्थान में मुग़लकालीन ग्रंथों में बहुत सुंदर अलंकरण देखे जा सकते हैं, जो सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। इन ग्रंथों में प्रयुक्त रंग, कौशल व कलाकार की बुद्धि हमें सौन्दर्य के सिद्धान्तों और आदर्शों से परिचित कराती है। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद अरबी फारसी शोध संस्थान में हमें मुग़लकालीन ग्रंथों का बहुत बड़ा भण्डार देखने को मिलता है परन्तु प्रदर्शन कक्ष में केवल उन्हीं ग्रंथों को देखा जा सकता है जिनका विवरण इस शोधपत्र में प्रस्तुत किया गया है। मुग़लकालीन ग्रंथों में सौन्दर्यपूर्ण महत्व की कलात्मकता पर और अधिक खोज की भविष्य में सम्भावनाएँ हैं।

संदर्भ ग्रंथ-

1. खाँ, साहिबज़ादा शौकत अली, कसरे इल्म, टोंकः अरबी एवं फारसी शोध संस्थान, 1989.
2. फज़ल, अबुल आईन, अकबरी, अनुवादक, हरिवंश शर्मा, इलाहाबाद : महामन प्रकाशन मंदिर, 1966.
3. sakkal design. 27.12.2016. english. 21.11.2022. <https:// www.sakkal.com/ ArtArabicCalligraphy4.html>.

- (1) शोधार्थी, चित्रकला विभाग,
(2) आचार्य, चित्रकला विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-302004
मो. : 8559979456

कर्मफल व्यवस्था

- डॉ. मृणालिनी पारीक

''ओउम''

''आहारनिद्राभयसन्ततित्वं सामान्यमेतत्पशुभीर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिकं विशिष्टं ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।।''

अर्थात् खाना, पीना, सोना, डराना, डरना, मैथुन आदि गुण मनुष्य और पशुओं में एक समान हैं। ज्ञान ही मनुष्यों में विशेष गुण है, बिना ज्ञान के मनुष्य पशु समान ही है। उपरोक्त शास्त्रीय श्लोक मनुष्य को संसार के अन्य जीवों, पशु-पक्षी आदि से पृथक् करता है। विवेक शक्ति अर्थात् ज्ञान से युक्त होकर चिन्तन और मनन करने का सामर्थ्य ही मनुष्यों में एक विशेष गुण है जिसके कारण मनुष्य अपने आप को सृष्टि के अन्य प्राणियों (जीवों) से अलग करने में समर्थ है। माँ के गर्भ से जन्मा संसार का प्रत्येक जीव, जन्म के समय 'स्वाभाविक' अर्थात् जन्मजात ज्ञान से युक्त होता है। यह 'स्वाभाविक ज्ञान' उसे सृष्टिकर्त्ता परमात्मा के द्वारा मूल रूप से प्रदान किया जाता है। इस 'स्वाभाविक ज्ञान' को प्राप्त करने के लिए जीव को संसार के किसी अन्य जीव की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती।

नवजात शिशु का जन्म प्राप्त करते ही श्वास-प्रश्वास लेना, रोना, चिल्लाना, माँ के स्तन को चूस कर भोजन प्राप्त करना तथा किसी भी असामान्य स्थिति को अनुभव करते ही स्वतः ही आँख की पलकों का झपकना 'स्वाभाविक ज्ञान' के कारण से ही है।

समय व्यतीत होने के साथ-साथ आयु बढ़ते रहने से नवजात जीव का धीरे-धीरे सर्वांग विकास होता जाता है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्रदत्त 'स्वाभाविक ज्ञान' में किसी प्रकार की वृद्धि करने में नितान्त असमर्थ रहते हैं क्योंकि परमात्मा द्वारा इन्हें सामान्य मस्तिष्क ही प्रदान किया गया है। परिणामस्वरूप सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक ये जीव अपने रहन-सहन, खान-पान, आहार-विहार आदि स्वाभाविक क्रिया-कलाप में किसी प्रकार का परिवर्तन करने में असमर्थ रहे हैं। परमात्मा ने उन्हें जितना ज्ञान जिस रूप में प्रदान किया है, उसी के अनुसार यथावत् आचरण, आहार तथा व्यवहार करने को वे विवश हैं।

इसके विपरीत सृष्टिकर्त्ता परमात्मा ने 'मनुष्य' नामक जीव को विशेष शरीर संरचना, वाणी तथा अन्य इन्द्रियाँ प्रदान कर उसे इस योग्य बनाया है कि वह प्राप्त 'स्वाभाविक ज्ञान' से ऊपर उठने में समर्थ है। परिणामस्वरूप वह अपने पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा-दीक्षा, सत् शास्त्रों का पठन-पाठन, अध्ययन, स्वाध्याय आदि अर्थात् 'नैमित्तिक ज्ञान' के द्वारा अपने आपको निरन्तर उन्नत तथा समृद्धशाली बना पाया है। इस 'नैमित्तिक ज्ञान' के द्वारा जहाँ मनुष्य ने आज ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदि का विकास कर धन-सम्पत्ति, आमोद-प्रमोद के साधन, वायु की गति से भी तेज गति वाले वायुयान, घर बैठे ही समस्त संसार के दृश्य देखने का माध्यम दूरदर्शन, इंटरनेट सुविधा, भयंकर विनाशकारी शस्त्र, दूर से मार करने वाले प्रक्षेपण आदि का आविष्कार कर अपना जीवन सुखमय तथा सरल बनाया है, वहीं अपने दुःखों में भी वृद्धि की है।

इस प्रकार सृष्टि में दो प्रकार की योनियाँ देखने को मिलती हैं - एक 'भोग योनि' दूसरी 'उभय योनि'। 'भोग योनि' में पशु-पक्षी, कीट-पतंग, अन्य जानवर, पेड़-पौधे इत्यादि सभी जीव-जन्तु आते हैं, जो केवल सामान्य कार्य करते हुए भोग भोगते हैं। 'उभय योनि' में केवल मनुष्य ही आते हैं जो भोगों के साथ-साथ विशेष या सामान्य कर्म भी करते हैं। ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने में स्वतंत्र बनाया है। इस कारण वह पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म रूपी कर्म करता है जिससे उसका कर्माशय बनता है। कर्माशय में संचित कर्मों के अनुसार अगला जन्म परमात्मा की न्याय व्यवस्था के अनुसार मिलता है। शास्त्रों के अनुसार यदि पाप और पुण्य 50-50 प्रतिशत हो या पुण्य कर्म 50 प्रतिशत से अधिक हो, तो मनुष्य का जन्म मिलता है। इसमें जितने अधिक पुण्य कर्म होंगे, उतना ही अच्छा उसका कर्माशय होगा जिसके आधार पर उसको अच्छा परिवार, माता-पिता, धन-वैभव, सुख-सुविधाएँ, बुद्धि, शारीरिक बल इत्यादि मिलेंगे। वेद में मंत्र है-

''यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु।''[1]

अर्थात् जिस कामना से युक्त होकर कर्म किया जाता है, उस कामना के अनुसार ही ईश्वर यथायोग्य फल देता है। कामना की पूर्ति के लिए जितना अधिक पुरुषार्थ होगा, फल भी उसी के अनुसार मिलेगा। जब भौतिक सुख-सुविधाओं, बुद्धि, बल इत्यादि कामनाओं को ध्यान में रखकर सुकर्म किया जाता है तो यह भौतिक फल मिलता है और जब आध्यात्मिक उन्नति को ध्यान में रखकर जैसे मुक्ति की आकांक्षा रखना, साधना की तरफ बढ़ना, शास्त्रों का अध्ययन करना, उसके लिए अच्छे गुरुजनों और साधु-संतों का संग करना इत्यादि पुण्य कर्म किए जाते हैं तो इसकी पूर्ति के लिए उचित माहौल एवं वातावरण मिलता है। 50 प्रतिशत से कम पुण्य कर्म या 50 प्रतिशत से अधिक पाप कर्म होने पर 'भोग योनि' में जन्म मिलता है।

हर पल कर्म करते रहना मनुष्य का नैसर्गिक गुण तथा स्वभाव है। जागृत अवस्था में सक्रिय न रहने वाला अर्थात् बेकार हाथ पर हाथ रखकर बैठने की अवस्था में भी मस्तिष्क क्रियाशील रहकर कुछ न कुछ सोचने का कार्य तथा आँख कहीं न कहीं देखने का कार्य (कर्म) करती ही रहती है। निद्रा अवस्था में भी मन निष्क्रिय न रह कर स्वप्न के माध्यम से क्रियाशील रहकर कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है -

''न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।''[2]

अर्थात् निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है। स्थूल शरीर में स्थित मन का अपना विशेष स्थान है। मन के वशीभूत होकर ही मनुष्य अपने समस्त कार्य-कलाप करता है।

मुख्यतः कर्म तीन प्रकार से किए जाते हैं :- (1) स्वयं के द्वारा मन, वचन और कर्म से किया हुआ कार्य 'कृत कर्म' कहलाता है (2) दूसरे के द्वारा मन, वचन और कर्म के द्वारा करवाया हुआ कार्य 'कारित कर्म' कहलाता है तथा (3) न स्वयं ने किया, न दूसरे से करवाया, किन्तु किसी के द्वारा किये हुए कार्य का समर्थन करना 'अनुमोदित कर्म' कहलाता है। ये तीनों ही प्रकार के कर्म मन, वचन व कर्म तीनों रूपों से किए जाते हैं। ये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। इन्हीं से पाप और पुण्य रूपी कर्माशय बनता है। आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म के तीन भेद हैं:-

(1) शुभ कर्म : शास्त्रोक्त तथा निष्काम भावना से किए गए कर्म, जिनका परिणाम स्वयं की आत्मोन्नति तथा संसार के समस्त जीवों के लिए सुखद हो। जीवस्य आत्माएँ अलग-अलग तो हैं परन्तु उनके स्वभाव में सार्वभौमिक एकरूपता है कि जो एक जीवात्मा (जीव के साथ आत्मा का संयोग होने से 'जीवात्मा') को प्रिय या अप्रिय है, वहीं दूसरी जीवात्मा को भी प्रिय या अप्रिय है। सभी जीवात्माएँ नहीं चाहती कि उन्हें किसी अन्य जीवात्माधारी शरीर से किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक हानि प्राप्त हो। इसी सार्वभौमिकता को दृष्टिगोचर रख कर किसी नीतिकार ने कहा है -

''आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।।''[3]

अर्थात् जो अपने को अप्रिय है, वह दूसरों के लिए भी न करें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सब मनुष्यों का यह धर्म है कि वह अपनी आत्मा के सदृश्य ही अन्य मनुष्यों तथा प्रत्येक जीव मात्र की आत्मा को जानकर तद्नुसार माने। वह निश्चयपूर्वक माने कि यदि किसी मनुष्य के द्वारा किये गये किसी कर्म से मेरी अपनी आत्मा को दुःख या किसी प्रकार की हानि प्राप्त होती है, तो उसी प्रकार का कर्म यदि मैं किसी अन्य मनुष्य या जीव मात्र के प्रति करूंगा तो उस मनुष्य या जीव की आत्मा को भी मेरे सदृश्य ही दुःख या हानि होगी। मनीषियों ने कहा भी है - ''आत्मवत् सर्व भूतेषु।'' अर्थात् अपनी आत्मा के सदृश्य संसार के सभी जीवों की आत्मा को समझो। वेद के अनुसार -

''मित्रस्याऽहं चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।''[4]

अर्थात् मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखूँ। धर्म की स्थापना के लिए यानि शुभ की वृद्धि के लिए किए गए कर्म पुण्य कर्म कहलाते हैं।

पुण्य कर्म सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के होते हैं। सांसारिक सुख-सुविधाओं और यश-सम्मान की प्राप्ति के लिए जो कर्म किए जाते हैं, वे सकाम कर्म होते हैं और जो ब्रह्म की प्राप्ति के लिए शुभ कर्म किए जाते हैं, वे निष्काम कर्म कहलाते हैं। मुक्ति की कामना करते हुए उचित मात्रा में सुख-साधन जुटाना और उनमें आसक्ति न रखना भी निष्काम कर्म ही है। ऐसे ही लौकिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए साधना करना या परोपकार आदि शुभ कर्म करना सकाम कर्म हैं।

(2) अकर्म : जो कर्म, कर्मकर्त्ता को वस्तुतः लाभ न पहुँचाकर परिणाम में अकारथ जाये अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाप का भागी बनाए 'अकर्म' कहलाते हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो कर्म किए जाते हैं, वे भी अकर्म कहलाते हैं।

(3) दुष्कर्म : जिन कृत कर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तत्काल या कालान्तर में किन्हीं मनुष्यों या प्राणियों को शारीरिक या अन्य किसी भी प्रकार का कष्ट या हानि पहुँचावे 'दुष्कर्म' कहलाते हैं। अशुभ की वृद्धि के लिए छल-कपट पूर्वक किए गए कर्म दुष्कर्म की श्रेणी में आते हैं। मन के द्वारा कृत दुष्कर्म यथा, दूसरे के द्रव्य में ध्यान, दूसरे के अनिष्ट का विचार और नास्तिकता अर्थात् ईश्वर की सत्ता को न मानना, मन में ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह तथा दूसरों के दुःख सुनकर मन ही मन खुश होना तथा उन्हें कष्ट में देखने की इच्छा रखना दुष्कर्म ही हैं। मनुस्मृति में कहा भी है -

''परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथामिनिवेशच्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।''[5]

अर्थात् दूसरे के द्रव्य में ध्यान, मन से अनिष्ट की चिन्ता और नास्तिकता, यह तीन प्रकार के कर्म मन से उत्पन्न होने वाले दोष हैं।

वाणी के द्वारा कृत दुष्कर्म – कटु वचनों का बोलना, मिथ्या बोलना, आत्मा के विरुद्ध अर्थात् आत्मा में कुछ हो परन्तु वाणी से कुछ और (विपरीत) बोलना, चुगली आदि करना, पीठ पीछे निन्दा करना, गाली देना या पीठ पीछे आलोचना करना, वाणी के द्वारा अनादर करना और असंबद्ध बकवास करना वाणी द्वारा कृत दुष्कर्म हैं।

शरीरस्थ कर्मेन्दियों द्वारा दुष्कर्म – चोरी, बलात्कार, उठाईगिरी, राहजनी, लूटमार आदि दुष्कर्म अर्थात् दूसरे के अधिकार की वस्तु को बलपूर्वक अपने अधिकार में लेना, अनुचित कार्य सिद्धि के लिए किसी को भयभीत करना तथा हिंसा आदि के द्वारा प्राण लेना अथवा शारीरिक हानि पहुँचाना आदि।

मन, वाणी और इन्द्रियों द्वारा दो प्रकार के कर्म किये जाते हैं :-

(1) भौतिक कर्म : भौतिक अर्थात् ऐसे दुष्कर्म जिनका प्रभाव स्थायी न होकर समाप्त होने वाला हो। ऐसे कर्मों का फल इसी जन्म अर्थात् जिस जन्म में कर्म किया गया हो, उसी जन्म में प्राप्त हो जाता है। जैसे किसी मनुष्य द्वारा किया गया अन्य मनुष्य के प्रति बुरा बर्ताव, गाली-गलौज, अपशब्द अथवा ऐसी शारीरिक हानि का पहुँचाना जो कि स्थायी न हो। इन दुष्कर्मों का प्रभाव अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि को त्याग कर, विनम्र होकर, क्षमा मांगकर तथा यदि शारीरिक चोट या जख्म होने पर स्वयं के द्वारा सेवासुश्रुषा, देखभाल या समुचित धन देकर समाप्त किया जा सकता है। चूंकि कृत दुष्कर्मों का उपरोक्त प्रकार से कर्मफल प्रायश्चित के रूप में भोग लिया जाता है, अतः इस प्रकार के दुष्कर्मों के संस्कारों के 'बीज' अगले जन्मों में भोगने हेतु 'सूक्ष्म शरीर' पर स्थिर नहीं होते अर्थात् जमते नहीं हैं। वेद में कहा है –

''यदस्मृति चकृम कि चिदग्नउपारिम चरणे जातवेदः।

ततः पाहि त्वम् नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः।।''[6]

अर्थात् मनुष्य से यदि आगा-पीछा बिना विचारे अपराध हो जावे, तो उसका प्रायश्चित करने हेतु आगे से अपराध त्याग कर शुभ कर्म करके प्रायश्चित करें।

संचित कर्म : जिन कर्मों का प्रभाव स्थायी रूप से हो और जिनकी क्षतिपूर्ति संभव न हो, ऐसे दुष्कर्मों के संस्कार निश्चय रूप से 'सूक्ष्म शरीर' पर 'बीज' रूप में स्थिर हो, अगले जन्मों में कर्म फल भोग भोगने हेतु संचित होते रहते हैं। यही संचित कर्म मनुष्य का 'भाग्य' या 'दुर्भाग्य' बन प्रारब्ध का निर्धारण करते हैं। मनुस्मृति में कहा भी है –

''तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह।

याम्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम्।।''[7]

अर्थात् मन और जीवात्मा दोनों एकत्रित होकर धर्म और अधर्म के फल को इस जन्म या अगले जन्मों में प्राप्त करते हैं और संचित कर्म के कारण शरीर धारण करते हैं।

''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।''[8]

कोई भी कर्म बिना फल दिए समाप्त नहीं होता है, जिसके द्वारा कर्म किया जाता है, फल भी उसी को मिलता है, अन्य लोग तो प्रभावित होते हैं। प्रत्येक जीव को उसके द्वारा किए हुए शुभ या अशुभ कर्म का फल उतना ही मिलता है उससे कम या अधिक नहीं। अन्याय से, चोरी से यदि किसी ने किसी के धन का या सुख-सुविधाओं का, यश का, सम्मान का भोग किया भी है तो अन्ततः ईश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार उसकी क्षतिपूर्ति भी होती है। उसके लिए यथासंभव पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति के पहले के पुण्य कर्मों का फल भोगा माना जावेगा यानि उसके पुण्य कर्म क्षीण हो जावेंगे। ईश्वर किसी को कम

या अधिक दण्ड नहीं देता है। क्षतिपूर्ति न होने पर ही कर्म कर्माशय में संचित हो जावेंगे। कोई राष्ट्र स्तर पर या सामाजिक स्तर पर घोटाला, आतंक या परोपकार करता है तो उसका फल भी उसको राष्ट्र द्वारा या समाज द्वारा दिया जाता है, नहीं तो परमात्मा के द्वारा मिलता है।

प्रत्येक कर्म का फल समय आने पर मिलता है। कोई कर्म तुरन्त फल देने वाले होते हैं तो कोई कर्म देरी से फल देते हैं। कई कर्म अन्य दूसरे जन्मों में फल देते हैं। हर कर्म का फल अलग-अलग होता है। हमें किसी एक कर्म को दूसरे कर्म के फल के साथ नहीं जोड़ना चाहिये।

मनुष्यों को परमात्मा के अटल नियमों तथा व्यवस्थाओं के माध्यम से उनके संचित (जन्म जन्मान्तरों में कृत) कर्मों का कर्मफल भोग वर्तमान जीवन में किसी न किसी प्रकार कृत कर्मों के क्रमानुसार, उनके भोग का समय आने पर किसी न किसी माध्यम के द्वारा प्राप्त हो ही जाता है। समय आने पर मनुष्य अपने स्वभाव, विवेक, अज्ञान अथवा अपने स्वयं के सोच वश, ऐसी परिस्थितियाँ या वातावरण का निर्माण कर बैठता है कि जिनके वशीभूत हो उनके कार्य सुख-दुःख प्रदान करने का कारण बन जाते हैं। कभी-कभी परमात्मा की प्रेरणा से भी अदृश्य शक्तियाँ उन घटनाओं को घटित कर देती हैं जो कि कर्मफल के अनुसार सुख या दुःख प्राप्त कराती हैं।

मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों से शुभ और अशुभ लक्षणों सहित जन्म लेता है। जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञा में चलते हैं, वे क्लेशों को मिटाकर सुख भोगते हैं। हर मनुष्य दुःखों से निवृत्ति चाहता है। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य दुःखों से पूर्ण निवृत्ति है। सांख्य दर्शन में बताया है -

''अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिः अत्यन्त पुरुषार्थः।''[9]

अर्थात् तीन प्रकार के दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाना प्राणी मात्र का मुख्य उद्देश्य है। वर्गीकरण के हिसाब से तीन प्रकार के दुःख मनुष्य को मिलते हैं :-

(1) आध्यात्मिक दुःख : आत्मा को अधिकृत करके जो दुःख होता है, जिन दुःखों का कारण हम स्वयं हैं। दूसरे ढंग से जो हमारे शारीरिक और मानसिक दुःख हैं वे अर्थात् वात, पित्त, कफ़ आदि में विकार होने के कारण जो शरीर में रोग होते हैं या पीड़ा होती है, वह शारीरिक दुःख है। मानसिक दुःखों का मूल कारण क्लेश ही है। अर्थात् अविद्या (संसार के अनित्य पदार्थों को नित्य मानना, दुःख देने वाले विषयों को सुखदायी मानना तथा मन, अहंकार को ही आत्मा मानना) राग, द्वेष, लोभ, मोह, मत्सर आदि ही दुष्कर्मों को कराने वाले तथा पुनः जन्म धारण कराने वाले होकर दुःखों के कारण बनते हैं, यह आध्यात्मिक दुःख कहलाता है।

(2) आधिभौतिक दुःख : अन्य प्राणियों, जीव-जन्तुओं, कीट-पतंगों या दूसरे मनुष्यों के द्वारा शारीरिक या मानसिक दुःख मिलता है, वह आधिभौतिक दुःख कहलाता है यानि जो अन्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न हो, जैसे सर्प के काटने या सिंह द्वारा मारे जाने या मनुष्यों के परस्पर युद्ध से जो दुःख उपस्थित हों, उसे आधिभौतिक दुःख कहते हैं।

(3) आधिदैविक दुःख : जो दुःख दैवी शक्तियों अर्थात् अग्नि, वायु या जल के न्यूनाधिक्य से उपस्थित हों, उनको आधिदैविक दुःख कहते हैं। जैसे-अधिक गर्मी या अधिक सर्दी के कारण होने वाला कष्ट, प्राकृतिक आपदाएँ जैसे-भूकम्प, बाढ़, आँधी, तूफान आदि के कारण होने वाले दुःख आधिदैविक दुःख कहलाते हैं। प्रकृति के पदार्थ हमारे लिए हितकर हैं, इसलिए ये देव कहलाते हैं।

शुद्ध रूप से इनमें कोई एक ही कारण हमारे दुःख का कारण नहीं होता है। इनमें मिश्रण मिलता है। यह जो तीन प्रकार के दुःखों का वर्गीकरण है, उसके अन्दर जितने भी दुःख या कष्ट हैं, सारे आ जाते हैं।

आधिभौतिक या आधिदैविक दुःखों में अन्य प्राणियों या प्रकृति के द्वारा जितना दुःख या कष्ट होता है या प्रतिकूलता होती है, वह सारा का सारा आधिभौतिक या आधिदैविक ही नहीं होता, उसके साथ-साथ आध्यात्मिक दुःख भी हमारे कारण के रूप में जुड़ जाता है। उदाहरण के लिए किसी ने किसी की वस्तु छीनी या चोरी की, उस वस्तु की कमी के कारण जितना कष्ट हुआ, वह आधिभौतिक दुःख है, लेकिन हमने अपने अविद्या आदि क्लेशों के कारण उस दुःख को कई गुणा बढ़ा लिया। ऐसे ही प्राकृतिक आपदाओं के कारण जो आहत या नुकसान हुआ, वह उस क्षेत्र के सभी प्राणियों को हुआ, लेकिन कोई इसे सामान्य रूप से लेकर अपने दुःख को नहीं बढ़ाता, तो कोई हाय-तौबा करके दुःखी ही रहता है।

कई बार हमारे कारण कोई न्यायोचित ढ़ंग से दण्ड देता है या कष्ट देता है तो वह हमारा आध्यात्मिक दुःख ही है क्योंकि उसका कारण हम स्वयं ही हैं। मौसम या ऋतु परिवर्तन के समय कोई रोगी होता है, कोई नहीं होता। अधिकांश दुःख जो दूसरों के कारण मिलते हैं, उनमें आध्यात्मिक दुःख भी कारण होते हैं। वास्तव में जब हम व्यवहार में देखते हैं तो दुःख का कारण एक ही नहीं होता है, इसमें हमें इनका मिश्रण मिलेगा।

कोई भी मनुष्य दुःख नहीं चाहता है। इन दुःखों से पूर्ण निवृत्ति अर्थात् नितान्त मुक्ति मनुष्य मात्र का अंतिम लक्ष्य है, परम कर्त्तव्य है। श्रेष्ठ कर्म करते समय यदि मन के भाव अच्छे हैं, उसमें विकार नहीं है, मन शांत है, तो वह कर्म भी बड़ा फलदायी होता है। महर्षि विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए श्री रामचन्द्र जी को लेकर आए जबकि वे स्वयं राक्षसों के आतंक से यज्ञ की रक्षा करने में समर्थ थे। यदि वे स्वयं राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करते तो उनको राक्षसों पर क्रोध करना पड़ता और यज्ञ निष्फल हो जाता।

दुःखों से छूटने का एक उपाय यह भी है कि दुःख को दुःख ही न समझा जाये, अपितु प्राप्त दुःखों को अपने द्वारा पूर्व में कृत दुष्कर्मों का कर्मफल भोग जानकर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक तथा साहसपूर्वक भोगा जाए। यह मानकर कि अपने कुछ पापकर्मों का फल भोगने से कर्माशय शुद्ध होगा। इसके लिए इस प्रकार की मानसिकता का होना आवश्यक है कि प्राप्त दुःखों को स्वयं पर एक ऋण ही समझा जाय, जो कि पूर्व जन्मों में स्वयं के द्वारा कृत दुष्कर्मों के कर्मफल भोग के कारण से हैं, जिसे अब प्राप्त दुःखों को भोगकर मैं परमात्मा की कृपा से चुका रहा हूँ। मुझे परमात्मा ने एक अवसर दिया है कि मैं उस कर्म से मुक्त हो रहा हूँ। ऐसी मानसिकता के अन्तःकरण (मन) में उत्पन्न होने पर प्राप्त दुःख की अनुभूति कम होगी और दुःख प्रतीत नहीं होगा।

शरीर आत्मा का भोगस्थल है अर्थात् जन्म जन्मान्तर में कृत पुण्य और पापों के कर्म फल भोगने का माध्यम है। जब बुद्धि ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो जाती है और मनुष्य इसके प्रकाश में शुभ कर्म कर इस आत्मा को शुद्ध और निर्मल कर पुण्यों से संस्कारित कर लेता है, तो आत्मा इस शरीर के माध्यम से सुख, शांति तथा आनन्द प्राप्त कर अन्त में संचित शुभ कर्मों के प्रभाव से अपने स्वामी (परमात्मा) के सान्निध्य में विचरती है। यही आत्मा की मुक्ति का स्वरूप है।

सन्दर्भ :-

1. सूक्त ऋग्वेद (10.121.10)
2. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-3, श्लोक-5

3. पद्मपुराण, सृष्टि 19.357
4. यजुर्वेद, अध्याय-36/ मंत्र-18
5. मनुस्मृति, अध्याय-12/ श्लोक-5
6. अथर्ववेद, काण्ड-7 (111-अमृतत्व सूक्त (106))
7. मनुस्मृति, अध्याय-12/ श्लोक-19
8. ब्रह्मवैवर्तपुराण 1/44/74
9. सांख्य प्रवचन सूत्रम्, प्रथम सूत्र

Postal Address- Flat no. 201, Akme paradise, Block- C,
Meera Nagar, Near Shobhagpura Circle,
Udaipur (Rajasthan) - 313001
Mob. No. - 7240745211
- सहायक आचार्य, हिन्दी
राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)-313001
मोबाइल - 7240745211
ईमेल आईडी - mrinalinipareek456@gmail.com

सश्रद्ध श्रद्धांजलि - कीर्तिशेष श्री उपेन्द्रनाथ जी राय
निधन - 28 अप्रेल, 2024

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं वार्ता साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ मनीषी श्री उपेन्द्रनाथ जी राय का जन्म उत्तरप्रदेश के सुल्तानपुर जिले के पालिया ग्राम में 23 अक्टूबर 1937 को हुआ। इतिहास, राजनीति विज्ञान और साहित्य आपके अध्ययन, चिन्तन और लेखन के प्रिय विषय रहे। पश्चिम बंगाल इनके जीवन का कर्मक्षेत्र रहा। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित श्री राय साहब को आपातकाल के दौरान कुछ समय जेल में भी बन्द रखा गया।

वेद, उपनिषद, पुराण, कुरान, जेन्दअवेस्ता, बाइबल आदि धार्मिक ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन के साथ-साथ आपने बौद्ध धर्म और जैन धर्म पर भी विशेषज्ञता प्राप्त की। परिषद पत्रिका, शोधपत्रिका, सम्मेलन पत्रिका, तुलसीप्रज्ञा, साहित्य सन्देश, जर्नल ऑफ गंगानाथ झा के.एस. विद्यापीठ, मेरठ विश्वविद्यालय के संस्कृत शोध जर्नल, वैचारिकी, वेदवाणी, विश्वैश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जर्नल, मीरायन आदि अनेक शोध पत्रिकाओं में आपके कई आलेख प्रकाशित हुए।

दोनों पैरों से अपंग एवं स्किन कैन्सर से पीड़ित होने के उपरान्त भी आपके अध्ययन एवं लेखन का क्रम नहीं टूटा। जीवन के अन्तिम पड़ाव में किडनी की बीमारी के कारण 28 अप्रेल 2024 को जलपाईगुड़ी के मेटेली ग्राम में आपने अन्तिम सांस ली।

मीरा स्मृति संस्थान और मीरायन शोध पत्रिका से आपका लम्बे समय तक जुड़ाव रहा। आपके निधन से विद्वत् जगत ने एक उत्कृष्ट शोधअध्येता, चिन्तक एवं उच्चकोटि के विद्वान लेखक को खो दिया है। हम आपके आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक एवं सश्रद्ध श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

- सम्पादक मीरायन एवं अध्यक्ष
मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'अंधा युग' की प्रासंगिकता

- डॉ. प्रीति. के

धर्मवीर भारती की कीर्ति का आधार स्तंभ है - 'अंधा युग' नामक गीति नाट्य जो महाभारत के अंतिम दिनों की पृष्ठभूमि पर आधारित है। कथानक की समकालीनता नाटक को नवीन व्याख्या और अर्थ देती है। यह महाभारत की कथा का आधार ग्रहण कर विश्वयुद्धों की विभीषिका तथा उसके दुष्परिणामों से अवगत कराने वाली, आधुनिकता बोध से संपन्न नाट्यकृति है। इस नाटक में युद्ध के बाद की स्थिति और मानवीय मूल्यों की हानि को दिखाया गया है। यह कृति महाभारत के पात्रों की आंतरिक संवेदनाओं और युद्ध के प्रभावों का गहरा चित्रण करती है और इसे विशेष रूप से उस समय की नैतिकता और आध्यात्मिकता के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक माना जाता है। यह नाटक अभी भी भारत की प्रत्येक भाषा में मंचित हो रहा है। इसमें धर्मवीर भारती ने रंगमंच निर्देशकों के लिए ढेर सारी संभावनाएँ छोड़ी हैं। इसकी मंचीय सफलताओं का इतिहास महानगरों से लेकर छोटे-बड़े शहरों, कस्बों तथा विदेशों तक फैला हुआ है।

इस नाटक की प्रासंगिकता पर विचार करें तो हम देखेंगे कि यह नाटक मानवीय संघर्षों और नैतिक दुविधाओं को उजागर करता है, जो युद्ध और संघर्ष के समय विशेष रूप से प्रखर हो जाती हैं। यह दर्शाता है कि किस प्रकार सत्ता की लालसा और अधिकार की चाह में इंसान अपने नैतिक मूल्यों को भूल जाता है। 'अंधा युग' अहिंसा और शांति के महत्व को भी रेखांकित करता है कि युद्ध और हिंसा अंततः समाज को विनाश की ओर ले जाती है और शांति का मार्ग ही हमें वास्तविक विकास की दिशा में अग्रसर कर सकता है। यह नाटक राजनीतिक और सामाजिक प्रतीकों से भरा हुआ है, जो आधुनिक समाज के विभिन्न पहलुओं का प्रतिबिंब है। यह दिखाता है कि किस प्रकार शक्ति के केन्द्रीयकरण से अन्याय और भ्रष्टाचार जन्म लेते हैं।

'अन्धा युग' डॉ. धर्मवीर भारती द्वारा सन् 1954 में लिखा गया एक गीतिनाट्य है। इसकी कथावस्तु का आधार भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर 'महाभारत' है। महाभारत की मिथकीय कथा का पुनर्सृजन कर नाटककार ने अपने युग की ज्वलंत समस्या और संवेदना को व्यक्त किया है। महाभारतकालीन कथानक के पौराणिक मिथक को धर्मवीर भारती में विश्वयुद्धोत्तर सन्दर्भों में रखकर तत्कालीन बुनियादी सवालों से रूबरू होने का प्रयास किया है। इसमें युगीन मूल्यों के संघर्ष और विघटन के प्रश्नों को बौद्धिक धरातल पर गहनता से प्रस्तुत किया गया है। नाटक के प्रारंभ में ही धर्मवीर भारती ने 'अन्धा युग' के कथास्रोत का उल्लेख किया है। ''इस दृश्य-काव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है। अधिकतर कथावस्तु प्रख्यात हैं केवल कुछ ही तत्व उत्पाद्य हैं- कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ।''[1] इसमें दो विश्वयुद्धों से उत्पन्न मानवीय मूल्यों के विघटन की समस्या को भी उजागर किया गया है जो मनुष्य को नरपशु में तब्दील कर देती है और हम एक ऐसे ही अंधे युग में जीने को अभिशप्त हो जाते हैं, जैसा कि धर्मवीर भारती ने नाटक के प्रारंभ में ही लिखा- ''युद्धोपरांत/यह अन्धा युग अवतरित हुआ/ जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ/ सब विकृत हैं।''[2] इसमें भारती जी ने महाभारत युद्ध के परिणामों

की चर्चा बीसवीं शताब्दी के विश्वयुद्धों के परिणामों के सन्दर्भ में की है और इसीलिए महाभारत की कथा का यह मिथकीय आख्यान वर्तमान के परमाणु हथियार संपन्न देशों की विवेकशून्यता के कारण उत्पन्न मनुष्य की अस्मिता के संकट एवं प्रत्येक राष्ट्र के समक्ष उपस्थित अनेकानेक संकटों को समेटता है। 'अन्धा युग' को हम मानवीय मूल्यों के विघटन एवं उस विघटन के परिणामस्वरूप मनुष्यता के सम्मुख उपस्थित सांस्कृतिक संकट के आख्यान के रूप में भी देख सकते हैं।

'अन्धा युग' का कथ्य महाभारतकालीन प्रासंगिकता लिए हुए युद्धोत्तर मानवीय संवेदनाओं से जुड़ा हुआ है। महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभासतीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की घटनाओं को भारती ने अपना प्रतिपाद्य बनाया है, जो कथ्य को मुखरित करने में सहायक हुई हैं। नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना के लिए पौराणिक संदर्भों के साथ-साथ भारती ने कल्पना का भी सहारा लिया है। इस प्रख्यात कथावस्तु में युद्धोत्तर मूल्यहीनता, अमानवीयता, सामाजिक विघटन, युद्ध की अणु संस्कृति, टूटती हुई मर्यादा एवं जीवन की कुरूपता के बीच से गुजरते हुए मर्यादा एवं आस्था की शुभ्र ज्योति प्रज्वलित की गयी है। 'अन्धा युग' का संपूर्ण कथानक पाँच अंकों में विभक्त है - कौरव-नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य, गांधारी का शाप, विजय : एक क्रमिक आत्महत्या। कथा में 'स्थापना' एवं 'समापन' की व्यवस्था है, बीच में 'अंतराल' भी रखा गया है। दृश्य परिवर्तन के समय लोक-नाट्य परंपरा की कथा गायन पद्धति की योजना की गयी है। 'स्थापना' से कृति का आरंभ होता है जिसमें नमस्कार की मुद्रा में नर्तक मंगलाचरण के बाद आने वाले भविष्य की उद्घोषणा करता है कि धर्म, अर्थ का ह्रास और धरती का क्षय होने वाला है। भविष्य में पूंजीपतियों की सत्ता होगी जिनसे पीड़ित होकर जनता गहन गुफाओं में छिपकर दिन काटेगी। एक प्रकार से संपूर्ण घटनाचक्र का आभास नर्तक से प्रारंभ में ही मिल जाता है। स्थापना के पश्चात् प्रथम अंक 'कौरव-नगरी' का प्रारंभ कथागायन से होता है जिसमें महाभारत युद्ध में कौरवों और पाण्डवों द्वारा किये गये अमर्यादित आचरण, मूल्यात्मक विघटन, दोनों पक्षों की पतनोन्मुखता तथा अंधेपन की विजय के साथ-साथ द्वापर युग के श्रीहीन होने का संकेत मिलता है-

''यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है।/ यह अजब युद्ध है, नहीं किसी की भी जय/ दोनों पक्षों को खोना ही खोना है।/ अंधों से शोभित था युग का सिंहासन/ दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा/ दोनों पक्षों में जीता अंधापन/ भय का अंधापन, ममता का अंधापन/ अधिकारों का अंधापन जीत गया।''[3]

अंतःपुर में शोकमग्न विदुर, धृतराष्ट्र एवं गांधारी सभी कुरुक्षेत्र में हो रहे युद्ध का परिणाम जानने के लिए चिंतातुर हैं। धृतराष्ट्र को पहली बार अहसास होता है कि उनके जन्मांध और आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व के कारण ही मर्यादा नष्ट हुई। सामाजिक मर्यादाओं का निर्वाह करने में वैयक्तिक मानदंडों की वजह से वे असफल रहे, जिससे पूरा राज्य युद्ध की विभीषिका से 'अंधायुग' में परिवर्तित हो गया। विदुर उन्हें समझाते हैं कि कृष्ण ने कहा था- ''मत तोड़ो/ तोड़ी हुई मर्यादा/ कुचले हुए अजगर-सी/ गुंजालिका में कौरव वंश को लपेट कर/ सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।''[4]

यहाँ कृष्ण का नाम सुनते ही गांधारी विक्षुब्ध हो उठती हैं। वे मानती हैं कि कृष्ण ही इस युद्ध के सूत्रधार हैं। कृष्ण की मर्यादा नीति में अब उन्हें विश्वास नहीं रहा। इसलिए वे कृष्ण को वंचक और मर्यादाहीन कहती हैं- ''जिसको तुम कहते हो प्रभु/ उसने जब चाहा/ मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया।/ वंचक है।''[5]

द्वितीय अंक 'पशु का उदय' में संजय असमंजस में पड़े हुए हैं कि कैसे वे धृतराष्ट्र और गांधारी को दुर्योधन के आहत होने का समाचार दें। व्यास का कहा गया यह कथन 'मरेगा नही संजय अवध्य है' उसे शाप लगने लगता है। अंधों से सत्य कहने की मर्मान्तक पीड़ा संजय को असह्य लगती है। अश्वत्थामा अतीत की घटनाओं से दुःखी होकर आत्महत्या करना चाहता था किन्तु एकाएक उसमें भयंकर प्रतिहिंसा और पशुता का जन्म होता है और हिंसा उसकी विवशता एवं मनोग्रंथि बन जाती है- ''वध मेरे लिए नहीं रही नीति/ वह है अब मेरे लिए मनोग्रंथि/ किसको पा जाऊँ/ मरोडूं मैं।''[6]

कौरव दल में सिर्फ तीन योद्धा अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा शेष बचते हैं। अंक के अंत में कथागायन के अंतर्गत विजयोन्माद में सोये हुए पाण्डवों एवं सरोवर में छिपे हुए दुर्योधन और सोये हुए अश्वत्थामा का उल्लेख किया गया है।

तीसरे अंक में युद्ध क्षेत्र से लौटती हुई हारी, थकी, घायल कौरव सेना का वर्णन किया गया है। कौरवों की पराजय से सारा वातावरण भयावह और करुण हो उठा है। धृतराष्ट्र विवशता और पश्चाताप की अग्नि में जल रहे हैं। इसी शोक संतप्त क्षणों में समाचार मिलता है कि घायल सेना के साथ एक विपक्षी योद्धा भी आया हुआ है जिसे देखकर नगर निवासी डरे हुए हैं। विदुर विपक्षी योद्धा युयुत्सु को पहचानते हैं। पाण्डव पक्ष की ओर से लड़ने के कारण युयुत्सु आत्मग्लानि से पीड़ित है। नेपथ्य में भीम के अन्याय की आलोचना बलराम भी करते हैं। वे भी युद्ध का उत्तरदायी कृष्ण को मानते हैं अतः कृष्ण को मर्यादाहीन और कूटनीतिज्ञ कहते हैं। अंतराल में अश्वत्थामा द्वारा मारा गया वृद्ध याचक प्रेतात्मा के रूप में प्रवेश करता है। उसकी प्रेतात्मा सारे युग के अंधेपन को देखती है और तत्कालीन परिस्थितियों पर व्यंग्य करती है- ''युग एक अंधा समुद्र है। चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ/ और दर्रों से/ और गुफाओं से/ उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर से/ उसे मथ रहे हैं।''[7]

युयुत्सु, संजय, एवं विदुर इस प्रेतात्मा की शक्ति से संचालित होकर बड़े ही नाटकीय ढंग से, प्रतीकात्मकता लिए अपनी-अपनी आंतरिक असंगति को व्यक्त करते हैं और मूल्यहीनता के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानते हैं। विदुर स्वयं को पहिया और संजय अपने को कर्मलोक से बहिष्कृत दो पहियों के बीच लगी निरर्थक धुरी मानते हैं।

चतुर्थ अंक में अश्वत्थामा के भीषण नरसंहार और गांधारी के शाप का उल्लेख किया गया है। अश्वत्थामा शिव को स्तुति के माध्यम से प्रसन्न कर लेता है और पाण्डव शिविर में घुस जाता है, शिविर में सोये हुए धृष्टद्युम्न और शिखण्डी की क्रूर हत्या कर देता है, शेष बचे हुए पाण्डव योद्धाओं को भी मौत के घाट उतार देता है। इस अंक के अंत में युद्धभूमि में अपने पुत्र दुर्योधन के कंकाल एवं अश्वत्थामा की इस करुणाजन्य मार्मिक अवस्था को देखकर गांधारी क्रोधित होकर कृष्ण को शाप देती है-

''कृष्ण सुनो!/ तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह/.... तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग ...../ प्रभु हो या परात्पर हो कुछ-कुछ भी हो/ सारा तुम्हारा वंश। इसी तरह पागल कुत्तों की तरह/ एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा/ तुम खुद उसका विनाश करके कई वर्षों बाद/ किसी घने जंगल में/ साधारण व्याघ्र के हाथों मारे जाओगे/ प्रभु हो/ पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।''[8]

कृष्ण गांधारी के शाप को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं और युद्ध की वास्तविकता का बोध करवाते

हुए अपनी उदारता का परिचय देते हैं। कृष्ण के शाप स्वीकार करने पर गांधारी आत्मग्लानि से भर जाती है। उनके हृदय में कृष्ण के प्रति ममत्व जाग उठता है। कृष्ण के शाप स्वीकार करते ही युग-युग की संचित मर्यादा निष्प्राण हो जाती है।

पाँचवें अंक 'विजय : एक क्रमिक आत्महत्या' में युद्धोपरांत छाने वाली निराशा का वर्णन है। महायुद्ध के विध्वंस के बाद कौरव-नगरी में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो गया है। फिर भी वे हमेशा युद्धोपरांत उत्पन्न हुए विकृत युग के बारे में सोचते रहते हैं। युधिष्ठिर को युद्ध जीतने के पश्चात शांति नहीं मिल रही है। इस विजय से उन्हें सुख के बदले पीड़ा ही मिलती है- ''ऐसे भयानक महायुद्ध को/ अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर/ अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव कर/यह भी यातना ही है।''[9]

इसमें युद्ध के पश्चात् राजा और राज्य की अस्तव्यस्त मनः स्थितियों का चित्रण किया गया है क्योंकि युद्ध कोई सार्थक वस्तु नहीं बल्कि ह्रासोन्मुखी संस्कृति का आत्मदाह ही है। उधर भीम की कटुक्तियों से मर्माहत होकर धृतराष्ट्र और गांधारी वन में चले जाते हैं। युयुत्सु अपमानित होकर आत्महत्या करने का प्रयत्न करता है और कृपाचार्य युधिष्ठिर की आत्मघात करने वाली संस्कृति में न रहने की प्रतिज्ञा करते हैं तथा राज्य छोड़ देते हैं। प्रजा में चारों तरफ अराजकता और भय छा जाता है। युधिष्ठिर भी इन परिस्थितियों से दुःखी होकर हिमालय चले जाते हैं। वृद्ध व्याघ्र के द्वारा नाटक के अंत में भारती जी कृष्ण का यह संदेश देते हैं- ''मरण नहीं है ओ व्याघ्र/मात्र रूपांतरण है वह..../ मेरा दायित्व स्थित रहेगा/ हर मानव मन में उस वृत्त में/ नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर।''[10]

इस प्रकार 'अन्धा युग' में भारती का स्वर अनास्था, निराशा, खिन्नता, प्रतिहिंसा, बर्बरता तथा विषादयुक्त संकीर्ण गलियों से गुजरता हुआ प्रकाश की तरफ बढ़ा है। कृति के प्रारंभ में ही कवि ने कहा कि ''कुण्ठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अंधापन इनसे हिचकिचाना क्या? इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण छिपे हुए हैं।''[11] इसी मर्यादा के दुर्लभ कण के लिए भारती को महाभारत की कथा के उन अंशों को चुनना पड़ा जो द्वितीय महायुद्धोत्तर मानवीय नियति से मेल खाता है। कथ्य में तुलना एवं प्रवाह का संयोजन, कथान्विति की रक्षा, नाटकीय गति आदि से अंत तक प्रवाहित होती रही है। इसीलिए 'अन्धा युग' अतीत का पुनरुत्थान मात्र न होकर अपनी आंतरिक सर्जना की गहरी अर्थवत्ता लिए प्रतीकात्मक बन गया है। युद्ध का उद्भव वैयक्तिक धरातल (कौरवों और पाण्डवों के हित) के कारण हुआ किन्तु उसका परिणाम संपूर्ण युग को भोगना पड़ा। पाँचवें अंक के बाद 'समापन' में प्रभु की मृत्यु की करुणा एवं रूपांतरण है।

धर्मवीर भारती ने अन्धा युग में पात्रों, प्रसंगों को उनके ऐतिहासिक परिवेश में सुरक्षित रखकर आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के विकीर्ण प्रकाश में उन्हें नयी व्याख्याओं की भावभूमि से बांधकर नवीनता का स्पर्श दिया। अपनी आधुनिक संवेदना को वाणी देने के लिए इतिहास की समस्त सामग्री और सम्पूर्ण स्वर को समेटकर आधुनिक काल से उसे सम्बन्ध कर सफलता प्राप्त की। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की पूर्ण रक्षा करते हुए महाभारत की विख्यात घटनाओं एवं चरित्रों को धर्मवीर भारती ने इतने सुनियोजित ढंग से चित्रित किया है कि 'अन्धा युग' एक तरफ यदि युग की विभीषिका से मूल्यहीनता एवं बर्बरता के दंश को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर इसने अंधी गलियों में भटकते हुए मानव को गीता के अनासक्त कर्मयोग के सिद्धांत द्वारा विवेकपूर्ण मर्यादा और आस्था की, नये सृजन की ज्योति और नयी दिशा दी है।

अतः 'अंधायुग' आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी अत्यंत प्रासंगिक है। यह नाटक महाभारत के अंतिम दिनों की कहानी को आधार बनाकर नैतिकता, अधिकार, युद्ध, और मानवीय संघर्षों के गहरे प्रश्नों का उत्तर खोजता है। आज के वैश्विक संघर्षों के परिप्रेक्ष्य में 'अंधायुग' युद्ध के विनाशकारी परिणामों को दर्शाता है। यह बताता है कि किस तरह युद्ध न सिर्फ भौतिक नुकसान करता है, बल्कि मानवीय संवेदनाओं और नैतिकता को भी क्षतिग्रस्त करता है। अंधायुग इस प्रकार न केवल एक ऐतिहासिक या पौराणिक कथानक का नाटक है, बल्कि यह आज के समय में भी उतनी ही प्रासंगिकता रखता है, जितनी कि इसकी अपने समय में थी।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1.धर्मवीर भारती,अंधा युग , किताब महल, इलाहाबाद - पृ -6
2. वही, पृ.12
3. वही, पृ.13
4. वही, पृ.19
5. वही, पृ.24
6. वही, पृ.40
7. वही, पृ.74-75
8. वही, पृ.101-102
9. वही, पृ.106
10. वही, पृ.120-129
11. वही, पृ.3

- एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभाग अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, कण्णूर विश्वविद्यालय, केरला-670001
Mob -8289918100
Email ID - preethamandeep@gmail.com

विनम्र निवेदन

1. **मीरायन पत्रिका की आजीवन सदस्यता 10 वर्ष की अवधि की है। अतः आपकी सदस्यता अवधि पूर्ण हो जाने पर पुनः नवीनीकरण शुल्क भेजकर सदस्यता को नियमित रखने में सहयोग करें।**
2. **मीरायन पत्रिका के वार्षिक सदस्य कृपया समय पर सदस्यता शुल्क भेजकर अपनी सदस्यता का नवीनीकरण करावें।**
3. **यदि आपके डाक के पते में कोई परिवर्तन होता है तो तत्काल सम्पादक को 9414148537 पर नया पता वाट्सएप करें।**
4. **लेखकगण अपने आलेख के अन्त में अपना पूर्ण पता, पिनकोड, मोबाइल/वाट्सएप नम्बर एवं ई-मेल अवश्य अंकित करें।**
5. **पत्रिका के लिए आलेख भेजने से पूर्व अपने स्तर पर यह सुनिश्चित कर लें कि कोई अशुद्धि या तथ्यात्मक गलती न रहे। आलेख की Word एवं PDF दोनों फाइल Kruti Dev 010 में भेजें।**
6. **पत्रिका प्राप्ति की सूचना अवश्य दें जिससे यह पता चल सके कि आपको पत्रिका निरन्तर प्राप्त हो रही है। यदि कोई अंक समय पर आपको नहीं मिले तो सम्पादक को तुरन्त सूचित करें।**

प्रो. सत्यनारायण समदानी, सम्पादक-मीरायण, मो. 94141 48537

गाँधी की दृष्टि में ब्रह्मचर्य

- विकास कुमार

सारांश- प्राचीन भारतीय सभ्यता से ही ब्रह्मचर्य को भारतीय समाज में नैतिकता एवं शक्ति के एक प्रमुख स्रोत के रूप में वर्णित किया गया है। इस कारण भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के समय महात्मा गाँधी द्वारा भी ब्रह्मचर्य की जोरदार वकालत की गयी। गाँधी जी के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है? गाँधी जी ने किस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास में वर्णित ब्रह्मचर्य को आधार बनाकर उसकी व्याख्या नवीन दृष्टिकोणों से अपने समकालिक समाज में की? उन्होंने ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रयोग सर्वप्रथम स्वयं पर किए और कालान्तर में अपने समस्त अनुयायियों को इसको धारण करने के लिए प्रेरित किया। उनका सत्याग्रह आश्रम भारत में ब्रह्मचर्य की प्रथम प्रयोगशाला बना परन्तु कालान्तर में गाँधी जी ने इसकी चर्चा अपने आन्दोलनों के समय जनसभाओं में भी की। उन्होंने ब्रह्मचर्य को स्वराज्य से जोड़कर देखा और बिना इसको धारण किए स्वराज्य प्राप्ति को असम्भव बताया। उनके द्वारा ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्य धारण करने के नियमों की विस्तृत चर्चा अपने ग्रन्थों में की गयी। इसके अतिरिक्त उन्होंने सच्चा सत्याग्रही बनने के लिए ब्रह्मचर्य को आवश्यक शर्त के रूप में भी वर्णित किया। इस प्रकार गाँधी जी ब्रह्मचर्य के माध्यम से भारतीय समाज को मानसिक और शारीरिक रूप से दृढ़ बनाकर उनका उपयोग भारत की आजादी की लड़ाई में करना चाहते थे। प्रस्तुत आलेख में ब्रह्मचर्य पर गाँधी जी के विचारों का विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

मुख्य बिन्दु : ब्रह्मचर्य, स्वराज्य, कोचरब आश्रम (सत्याग्रह आश्रम), ब्रह्मचारी, वीर्य, सत्याग्रही, स्त्री संग, ब्रह्मचर्य धारण करने के नियम, यौन-सम्बन्ध।

''महात्मा गाँधी आधुनिक युग के सबसे महान महापुरुष थे। वे मानव जाति के पथ प्रदर्शक थे। उन्होंने मानव जाति को आध्यात्मिकता, सामाजिकता, नैतिकता, प्रेम, सहयोग की पद्धति तथा स्वतंत्रता के बीज मंत्र प्रदान किए। उनके द्वारा प्राचीन भारत के ऋषियों द्वारा जलायी गयी मशाल को फिर से प्रज्वलित किया गया और उन्होंने इस मशाल के द्वारा ही भारतीय समाज में नयी शक्ति एवं नयी स्फूर्ति का संचार किया।''[1] ''गाँधी के जीवन के मंत्र का सार प्रमुख रूप से सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सत्याग्रह, ब्रह्मचर्य हैं। इसी को स्थापित करने में वे जीवनभर प्रयोग करते रहे। उनका यह कार्य सम्पूर्ण मानव जाति के लिए था किन्तु भारतवर्ष उनके कार्यों की प्रयोगशाला बना।''[2] ''उनका एक मात्र उद्देश्य ब्रिटिश आधिपत्य से भारत को आजादी दिलाना ही नहीं था बल्कि भारत के धार्मिक समूहों के बीच सामंजस्य स्थापित करना भी था, जो अक्सर आपस में एक दूसरे से लड़ा करते थे। अपने हिन्दू धर्म में छुआछूत की घृणित प्रथा को खत्म करना, भारत के लिए आर्थिक निर्भरता और भारतीयों के लिए नैतिक स्वाभिमान को जाग्रत करना भी उनका उद्देश्य था।''[3] इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने भारतीय समाज को नैतिक आधार पर विकसित करने का प्रयत्न किया। उनके द्वारा किए गए इन्हीं प्रयासों में ब्रह्मचर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

''गाँधी जी के अनुसार अपनी वासना पर नियंत्रण किए बिना एक पुरुष अपने ऊपर शासन नहीं कर सकता और अपने ऊपर शासन किए बगैर स्वराज्य सम्भव नहीं है। साम्प्रदायिक एकता, खादी, गाँवों का पुनर्निर्माण जैसे मुद्दे आत्मा की शुद्धि और आध्यात्मिक शक्ति के बिना पूरा करना मुमकिन नहीं हो सकता।''[4]

वह ब्रह्मचर्य के माध्यम से सम्पूर्ण देश में युवाओं को शारीरिक और मानसिक रूप से मजबूत बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध आजादी की लड़ाई में उनका प्रयोग करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य को जीवन का आधार, आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक आत्मनियंत्रण, इच्छाओं का दमन, ईश्वर के नजदीक ले जाने वाली युक्ति के रूप में वर्णित किया। इस प्रकार गाँधी जी ब्रह्मचर्य को समाज सेवा की केन्द्रीय विषयवस्तु बना देना चाहते थे।

ब्रह्मचर्य में गाँधी की दिलचस्पी हमें तभी से दिखायी पड़ती है, जब वह दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्षरत थे। ब्रह्मचर्य का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम व्यक्तिगत स्तर पर शुरू किया। गाँधी के अनुसार उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत फीनिक्स आश्रम में लिया। ब्रह्मचर्य के प्रति गाँधी की दीवानगी उत्तर अफ्रीका और मध्य-पूर्व के शुरूआती ईसाई संतों की तरह ही थी। उनके लिए यौनाचार शैतान के साम्राज्य जैसा था। उनका मानना था कि हमारे भीतर सबसे बड़ी और खतरनाक आकांक्षा यौनाकांक्षा ही है। ''इसी प्रकार मशहूर संत आगस्टाइन ने अपने नौजवानी के दिनों में ही यौन सम्बन्धों को बड़े आतंकित भाव और घृणा के साथ देखा था।''[5]

गाँधी जी को टालस्टॉय और रस्किन जैसे दो बड़े पश्चिमी चिंतकों ने प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त वो जैन रहस्यवादी रायचन्द भाई और पूना के राजनेता गोपालकृष्ण गोखले से भी प्रभावित रहे। यद्यपि इसके बावजूद गाँधी के आत्मबोध के रास्ते में असंख्य बाधाएँ थीं। लेकिन सबसे प्रमुख उनका खुद की यौनिकता के साथ संघर्ष था। उनके शुरूआती गुरु रायचन्द भाई ने उनसे आग्रह किया कि वे ब्रह्मचर्य का पालन करें परन्तु फिर भी गाँधी को ब्रह्मचर्य के विचार को मूर्त रूप देने में एक दशक से ज्यादा का वक्त लगा। उन्होंने एक युवा के रूप में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में कठिन संघर्ष किया और वर्ष 1906 से ही यौन सम्बन्धों से दूर रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया। यद्यपि ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करने से पहले वह चार पुत्रों के पिता थे परन्तु जब उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत धारण किया तब वह मात्र सैंतीस वर्ष के थे। ब्रह्मचर्य गाँधी जी के लिए बलिदान और नैतिक शुद्धता का प्रतीक था और उनके कार्यक्रमों में सेवा करने वाला कोई सामाजिक कार्यकर्ता जब समाज सेवा का व्रत लेता था तो उसे दुनियावी सुखों का त्याग करना पड़ता था। इन सुखों में अच्छा भोजन, शराब, तम्बाकू, जेवरात और यौन सम्बन्ध भी शामिल थे।

गाँधी जी अपनी आत्मकथा में स्पष्ट रूप से वर्णित करते हैं कि ''एक पत्नीव्रत का तो विवाह के समय ही मेरे हृदय में स्थान था। पत्नी के प्रति वफादारी मेरे सत्यव्रत का अंग था। पर अपनी स्त्री के साथ भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए इसका स्पष्ट बोध मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ।''[6] ''ब्रह्मचर्य का अन्तिम निश्चय तो मैंने सन् 1906 में ही कर लिया और बोअर के युद्ध के समय छः हफ्तों से अधिक जब मैं घर से बाहर रहा तब इस समय मैंने ब्रह्मचर्य के महत्व को अधिक से अधिक समझा। मैंने देखा यह व्रत बन्धन नहीं बल्कि स्वतंत्रता का द्वार है।''[7]

दक्षिण अफ्रीका से भारत वापसी के बाद गाँधी जी की ब्रह्मचर्य में दिलचस्पी और बढ़ गयी। उन्होंने भारत में कोचरब आश्रम की स्थापना की जो कि कालान्तर में सत्याग्रह आश्रम के रूप में परिणित हो गया। ''कोचरब में आश्रम की स्थापना के साथ ही गाँधी ने आश्रम के लिए एक संविधान लिखा जिसमें आश्रम के निवासियों को यह सीखना था कि अपने जीवनपर्यन्त मातृभूमि की सेवा कैसे करनी है? उन्हें

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, चोरी से दूर रहना और जिह्वा के स्वाद पर नियंत्रण की प्रतिज्ञा लेनी थी।''[8] कोचरब में आश्रमवासियों के आचरण के लिए बनाये गये नियमों को संस्कृत श्लोक का रूप दिया गया ताकि बहुत ही आसानी से वह सभी लोगों को कण्ठस्थ हो सके-

''अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह
शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र, भयवर्जनः
सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श भावना
हि एकादश सेवहि व्रत निश्चये।''[9]

''उन्होंने आश्रम का संविधान अपने कुछ मित्रों को भेजा, उनमें से एक उदारवादी सत्यानन्द बोस ने गाँधी द्वारा ब्रह्मचर्य पर अधिक जोर दिए जाने की कटु आलोचना की। सत्यानन्द बोस ने गाँधी को लिखा कि ये ठीक है कि स्वनियंत्रण और आत्मानुशासन महत्त्वपूर्ण बातें हैं लेकिन क्या इसे कठोरता से लागू किया जाना आवश्यक है? यह ठीक नहीं होगा कि पूरे देश में साधू और साध्वी ही नजर आयें। अगर समाज के बेहतरीन लोग संन्यासी ही बन जायेंगे तो समाज में सिर्फ औसत दर्जे के व्यक्ति ही बच जायेंगे।''[10]

''यद्यपि आश्रम में गाँधी के शिष्यों में ब्रह्मचर्य को लेकर अटूट श्रद्धा थी। चंपारण सत्याग्रह के दौरान ब्रजकिशोर बाबू ने अपनी एक मात्र कन्या प्रभावती को गाँधी जी को समर्पित कर दिया। प्रभावती आश्रम का अभिन्न अंग बन गयी और किशोरावस्था से ही प्रभावती ने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया। बाद में अमेरिका से उच्च शिक्षा पाए हुए सुन्दर युवक जयप्रकाश नारायण से उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ लेकिन प्रभावती ने अपना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं तोड़ा। गाँधी के एक और अनन्य शिष्य जे0बी0 कृपलानी और शिष्या सुचेता कृपलानी ने विवाह उपरान्त भी गृहस्थाश्रम में भी ब्रह्मचर्य का आजीवन पालन किया।''[11]

दक्षिण अफ्रीका से भारत आने के बाद गाँधी के सम्पर्क में जो भी आ रहा था वो उसे ब्रह्मचर्य के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे क्योंकि ''जब गाँधी ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया तो उस समय वे कोई नौजवान कुंआरे नहीं थे और न ही वे कोई बुजुर्ग थे। फिर भी गाँधी को लगा कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेने में उन्हें बहुत देर हो गयी थी। अब जो भी उनके प्रभाव में आ रहा था उनके द्वारा उसे निर्देश दिया जा रहा था कि वो जितनी जल्दी हो इस व्रत को ले ले।''[12]

''गाँधी के आश्रम में स्त्री और पुरुष दोनों रहते थे और उन्हें एक दूसरे के साथ मिलने की पूरी आजादी थी। यानी आदर्श यह था कि जितनी स्वतंत्रता माँ-बेटे या भाई-बहन भोगते हैं वही आश्रमवासियों को आपस में मिल सके। अर्थात् ब्रह्मचर्य के लिए जिन दीवारों की कल्पना आमतौर पर की जाती थी वे सब यहाँ नहीं रखी जाती थी। इसके विपरीत यहाँ यह माना जाता था कि जिस ब्रह्मचर्य को इन सब दीवारों की हमेशा जरूरत हो वह ब्रह्मचर्य नहीं है।''[13]

''गाँधी जी के अनुसार ''ब्रह्मचारी के लिए स्त्री नरक की खान नहीं है। उसके लिए वह अम्बा माता है, जगत की जननी है। स्त्री पर नजर पड़ते ही या अचानक उसे इच्छापूर्वक सेवा के लिए छूते ही जिसे विकार हो जाता है वह ब्रह्मचारी नहीं है।''[14] ब्रह्मचर्य के पालन का प्रयत्न आश्रम में छोटे-बड़े, पति-पत्नी सभी करते थे। फिर भी सब इसे जीवनभर पालने वाले नहीं थे। ऐसे तो थोड़े ही थे। लड़के और लड़कियाँ जब विवाह योग्य हो जाते थे तो उन्हें चेता दिया जाता था कि कोई जबरन ब्रह्मचर्य पालन के लिए

बँधे हुए नहीं थे। जो उसका तेज सहन न कर सके उन्हें शादी करने का अधिकार था। इसका नतीजा यह हुआ कि नवयुवक ज्यादा मात्रा में ब्रह्मचर्य पाल रहे हैं और कन्याएँ काफी उम्र तक इसका पालन करती हैं।''[15]

परन्तु ''नवम्बर 1925 में आश्रम के बहुत सारे लड़कों के बीच ब्रह्मचर्य की अनियमितता की खबर सुनकर गाँधी बहुत दुःखी हुए। जब उन्हें पता चला कि लड़कों और कुछ हद तक लड़कियों ने भी ब्रह्मचर्य के नियम का उल्लंघन किया है तब उन्होंने एक सप्ताह उपवास पर जाने का फैसला किया। यह उपवास इसलिए किया गया ताकि नौजवानों को उनकी गलती का एहसास दिलाया जा सके और आश्रम को उन त्रुटियों से रहित किया जा सके जो राष्ट्र के पौरुष को नष्ट कर रही हैं और उनके चरित्र को कमजोर कर रही हैं।''[16]

गाँधी जी ने ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से वर्णित किया- ''जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, मैं ज्यादा से ज्यादा स्पष्ट तरीके से महसूस करता जाता हूँ कि शरीर के महत्त्वपूर्ण द्रव (वीर्य) का संरक्षण अपने देश की सेवा के लिए महत्त्वपूर्ण है। आप में से सभी को इस द्रव का संरक्षण करना चाहिए और अपने शरीर को मजबूत करना चाहिए। अगर मैं इक्यावन वर्ष की उम्र में इतना अधिक जोश-खरोश दिखलाता हूँ तो इसका एक ही कारण है कि मैंने अपने द्रव को संरक्षित किया है। अगर मैंने शुरूआत से ही ऐसा किया होता तो मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता था कि किस ऊँचाई तक मैं अब तक पहुँच गया होता। एक गर्म मिजाज व्यक्ति और एक बेइमान व्यक्ति भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है लेकिन जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता वह कभी भी ज्ञान प्राप्ति नहीं कर सकता। मैं यहाँ उपस्थित सारे अभिभावकों और माता-पिता से आग्रह करता हूँ कि वे अपने लड़कों को उस महत्त्वपूर्ण द्रव के संरक्षण में हर तरह से मदद करें।[17]

अपनी आत्मकथा में भी गाँधी इसी तरह से लिखते हैं कि, ''आज बीस बरस बाद उस व्रत का स्मरण करते हुए मुझे सानन्द आश्चर्य होता है। संयम पालने की प्राप्ति तो मुझमें 1901 से ही प्रबल थी और मैं संयम पाल भी रहा था, पर जिस स्वतंत्रता और आनन्द का उपभोग मैं अब करने लगा, सन् 1906 के पहले वैसे आनन्द उपभोग का कोई स्मरण मुझे नहीं है क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था, किसी भी समय उसके वश में हो सकता था। अब वासना मुझ पर सवारी करने में असमर्थ हो गयी है।[18]

''गाँधी जी का मानना था जिस ब्रह्मचर्य पालन के लिए वियोजन अपनाना पड़े, उसका ज्यादा मोल नहीं है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य सम्बन्धी जो नियम दिए गए हैं उनसे गाँधी के विचार बिल्कुल भिन्न हैं। एक सच्चा सत्याग्रही वही बन सकता है जिसने अपनी लैंगिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो।''[19] गाँधी आरोग्य की कुंजी में लिखते हैं कि, ''ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म की प्राप्ति के लिए चर्या। संयम के बिना ब्रह्म नहीं मिल सकता। संयम सर्वोपरि इन्द्रिय निग्रह है। ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ स्त्री संग का त्याग और वीर्य संग्रह की साधना समझा जाता है। सब इन्द्रियों का संयम करने वाले के लिए वीर्य संग्रह सहज और स्वाभाविक क्रिया हो जाती है। स्वाभाविक तरीके से किया हुआ वीर्य संग्रह ही इच्छित फल देता है।''[20]

''जिस ब्रह्मचर्य पर मैं इस प्रकरण में जोर देना चाहता हूँ वह वीर्य रक्षण तक ही सीमित है। वीर्य संग्रह के बिना आरोग्य को टिकाना अशक्य सा समझना चाहिए। जिस वीर्य में दूसरे मनुष्य को पैदा करने

की शक्ति है उस वीर्य का फिजूल स्खलन होने देना, महान अज्ञान की निशानी है। वीर्य का उपयोग भोग के लिए नहीं केवल प्रजोत्पत्ति के लिए है।''[21] ''ब्रह्मचर्य एक महान व्रत है, उसके बगैर मन मजबूत नहीं होता। ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करने से मनुष्य वीर्यवान नहीं रहता, नामर्द और हीन हो जाता है।''[22]

ब्रह्मचर्य के विषय में गाँधी मंगल प्रभात में वर्णित करते हैं कि सारे व्रत एक सत्यव्रत ब्रह्मचर्य से ही निकले हैं। पूर्णरूप से अहिंसा का पालन करना ब्रह्मचर्य के बिना नामुमकिन है। इरादतन भोग-विलास के लिए वीर्य को गंवाना और शरीर को निचोड़ना कितनी बेवकूफी है? वीर्य का उपयोग शरीर और मन दोनों की शक्ति बढ़ाने के लिए है। विषय भोग में उसका इस्तेमाल करना बहुत बड़ा दुरुपयोग है और इसलिए वह बहुत-सी बीमारियों का मूल हो जाता है। ब्रह्मचर्य शरीर और मन को काबू में रखता है। ब्रह्मचर्य का पालन बहुत ही मुश्किल लगभग नामुमकिन माना गया है। परन्तु उसके कारण ढूँढने पर पता चलता है कि ब्रह्मचर्य का तंग, संकुचित अर्थ में, यानी जनन-इन्द्रिय (लिंग-योनि) के विकारों पर काबू पाने के सन्दर्भ में ही किया गया है। मुझे लगता है कि यह अधूरी और गलत व्याख्या है। तमाम विषयों पर रोक, काबू पाना ही ब्रह्मचर्य है।[23]

गाँधी के अनुसार ''नित्य उत्पन्न होने वाले वीर्य का अपनी मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाने में उपयोग कर लेना चाहिए। जो ऐसा करना सीख लेता है, वह प्रमाण में बहुत कम खुराक से अपना शरीर बाँध सकेगा। अल्पाहारी होते हुए भी वह किसी से कम शारीरिक श्रम नहीं करेगा। मानसिक श्रम में उसे कम से कम थकान लगेगी। बुढ़ापे के सामान्य चिह्न ऐसे ब्रह्मचारी में देखने में नहीं आयेंगे। आरोग्य की सच्ची कुंजी वीर्य संग्रह में है।''[24]

गाँधी विवाह और ब्रह्मचर्य पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। उनका इस विषय पर दृष्टिकोण है कि, ''विवाह स्त्री और पुरुष के बीच हार्दिक और आत्मिक एक्य की निशानी होना चाहिए। विवाहित स्त्री-पुरुष यदि प्रजोत्पत्ति के शुभ हेतु के बिना कभी संग करने का विचार तक नहीं करते तो वे पूर्ण ब्रह्मचारी गिने जाने के लायक हैं।''[25]

''ब्रह्मचर्य स्त्रियों के साथ पवित्र सम्बन्ध रखने से या उनके आवश्यक स्पर्श से अशुद्ध नहीं हो जायेगा। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री और पुरुष का भेद नहीं-सा हो जाता है।''[26]

गाँधी एक सत्याग्रही के लिए भी ब्रह्मचर्य को आवश्यक शर्त के रूप में देखते हैं। उनके विचार में, ''सत्याग्रही होना आसान है लेकिन जितना आसान है उतना मुश्किल भी। चौदह बरस का लड़का सत्याग्रही हुआ है, यह मेरे तजुरबे की बात है। रोगी आदमी भी सत्याग्रही हुए हैं परन्तु जो शरीर से बलवान और सुखी थे वह सत्याग्रही नहीं हो सके। अनुभव से मुझे मालूम हुआ है कि जो देश के भले के लिए सत्याग्रही होना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, गरीबी अपनानी चाहिए, सत्य का पालन तो करना ही चाहिए और उसमें अभयता आनी चाहिए।''[27] परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

''आमतौर पर ब्रह्मचर्य का अर्थ सब समझते हैं। मगर अर्थ जानते हुए भी इसका अमल करने में बहुतों का खून पानी हुआ है और बहुतेरे कोशिश करने पर भी आगे नहीं बढ़ सके हैं। जो मन, वचन और काया से इन्द्रियों को वश में रखता है वही ब्रह्मचारी है। जिस व्यक्ति के मन के विकार नष्ट नहीं हुए वह पूरा ब्रह्मचारी नहीं माना जा सकता। स्त्री संग न करने में जो ब्रह्मचर्य का आदि और अन्त मानते हैं वे ब्रह्मचारी

नहीं हैं।''[28] इस प्रकार गाँधी ने अपनी आरोग्य की कुंजी में वीर्य संग्रह और ब्रह्मचर्य के कुछ नियम वर्णित किए हैं[29] –

1. ब्रह्मचर्य में विकार की एक मात्र जड़ विचार है। इसलिए विचारों पर काबू पाना चाहिए। मन को हमेशा अच्छे और उपयोगी विचारों से भरे रखा जाये।

2. विचारों की तरह वाणी और अध्ययन भी विकारों को शान्त करने वाले होने चाहिए। इसलिए एक-एक शब्द तोलकर बोलना चाहिए।

3. मन को काम में लगाये रखने के साथ शरीर को भी काम में लगाये रखना चाहिए। यहाँ तक कि जब रात पड़े तो मनुष्य को इस कदर सुन्दर थकान हो कि बिस्तर पर पड़ते ही वह तुरन्त निद्रावश हो जाये।

4. मनुष्य को युक्ताहारी और अल्पाहारी बनना चाहिए।

5. प्रत्येक पुरुष स्त्री को माता, बहन, पुत्री की तरह देखे और प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष को पिता, भाई और पुत्र की तरह देखे।

अन्ततः ब्रह्मचर्य के लिए इन पाँच नियमों में ही सब नियमों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार गाँधी ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में संघर्ष के दौरान स्वराज्य प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य को एक महत्त्वपूर्ण शर्त के रूप में वर्णित किया। यद्यपि गाँधी ऐसे प्रथम विचारक नहीं हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य को मानव जीवन की बेहतरी के लिए आवश्यक क्रिया के रूप में वर्णित किया, गाँधी से पहले भी हमें भारतीय इतिहास में बौद्ध, जैन संतों, शंकराचार्य और आधुनिक भारत में स्वामी विवेकानन्द के विचारों में भी ब्रह्मचर्य की महत्ता पर आवश्यक बल दिए जाने के प्रमाण मिलते हैं परन्तु गाँधी ने ब्रह्मचर्य की व्याख्या नवीन दृष्टिकोण से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में की। उन्होंने ब्रह्मचर्य को स्वराज्य से जोड़कर भारतीय समाज के नैतिक उत्थान का प्रयास किया। गाँधी के ब्रह्मचर्य पर विचार वर्तमान समय में उतने ही प्रासंगिक दिखायी पड़ते हैं और वर्तमान समाज में हिंसा, स्त्रियों के प्रति अपराध में कमी, एक बेहतर समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

लॉर्ड बायड लिखते हैं, ''मेरे विचार से अब वह समय आ गया है जब गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विश्वव्यापी स्तर पर व्यवहार में लाना चाहिए, इनका प्रयोग अवश्य करना चाहिए और इनका प्रयोग अवश्य किया जायेगा क्योंकि जनता यह अनुभव करती है कि इसके सिवाय विनाश से परित्राण की कोई आशा नहीं है।''[30]

संदर्भ ग्रंथ –

1. सिंह, डॉ0 अमर ज्योति, 'महात्मा गाँधी और भारत', भूमिका, पृ0 7
2. वही, पृ0 9
3. गुहा, रामचन्द्र, 'गाँधी : दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन और गोलमेज सम्मेलन तक (1914-1931)' खण्ड 1, पृ0 10
4. सिन्हा, मनोज, 'गाँधी अध्ययन', पृ0 127
5. फाक्स, लेन राबिन, 'आगस्टीन कनवर्जन्स टू कनकेसन्स', पृ0 107
6. गाँधी, महात्मा, 'सत्य के प्रयोग (आत्मकथा)', पृ0 184
7. गाँधी, महात्मा, 'सत्य के प्रयोग (आत्मकथा)', पृ0 186
8. गुहा, रामचन्द्र, 'गाँधी : दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन और गोलमेज सम्मेलन तक (1914-1931)', पृ0 20
9. गाँधी, सुमित्रा कुलकर्णी, 'मेरे पितामह' भाग 2, पृ0 17

10. गुहा, रामचन्द्र, 'गाँधी : दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन और गोलमेज सम्मेलन तक (1914-1931)', पृ0 21
11. गाँधी, सुमित्रा 'कुलकर्णी, मेरे पितामह' भाग 2, पृ0 31-32
12. गुहा, रामचन्द्र, 'गाँधी बिफोर इण्डिया', पृ0 195-198
13. गाँधी, महात्मा, 'सत्याग्रह आश्रम का इतिहास', पृ0 35
14. वही, पृ0 35
15. वही, पृ0 37
16. 'सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय' भाग 29, पृ0 289-291
17. वही, भाग 37, पृ0 535-539
18. गाँधी, महात्मा, 'सत्य के प्रयोग', पृ0 187
19. सिन्हा, मनोज, 'गाँधी अध्ययन', पृ0 127
20. गाँधी, महात्मा, 'आरोग्य की कुंजी', पृ0 35
21. गाँधी, महात्मा, 'आरोग्य की कुंजी', पृ0 37-38
22. गाँधी, महात्मा, 'हिन्द स्वराज', पृ0 69
23. गाँधी, महात्मा, 'मंगल प्रभात', पृ0 15-20
24. गाँधी, महात्मा, 'आरोग्य की कुंजी', पृ0 39-40
25. वही, पृ0 38
26. वही, पृ0 36
27. गाँधी, महात्मा, 'हिन्द स्वराज', पृ0 69-70
28. गाँधी, महात्मा, 'सत्याग्रह आश्रम का इतिहास', पृ0 33-34
29. गाँधी, महात्मा, 'आरोग्य की कुंजी', पृ0 40-43
30. सिंह, डॉ0 अमर ज्योति, 'महात्मा गाँधी और भारत', पृ0 170

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, प्रकाशन विभाग, भाग 29, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1967.
2. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, प्रकाशन विभाग, भाग 37, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1967.
3. गाँधी, महात्मा, 'सत्य के प्रयोग (आत्मकथा)', नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 2004.
4. गाँधी जी, अनुवादक रामनारयण चौधरी, सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1979.
5. गाँधी जी, अनुवादक अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी, 'मंगल प्रभात', नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1979.
6. गाँधी हेरिटेज पोर्टल.
7. गुहा, रामचन्द्र, 'गाँधी दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन और गोलमेज सम्मेलन (1914-1931)', खण्ड 1, पेंगुइन, नई दिल्ली, 2018.
8. गुहा, रामचन्द्र, 'गाँधी बिफोर इण्डिया', पेंगुइन, नई दिल्ली, 2013.
9. कुलकर्णी, सुमित्रा गाँधी, 'महात्मा गाँधी : मेरे पितामह आजादी के नीतिकार', भाग 2, किताब घर, नई दिल्ली, 2012.
10. गाँधी, महात्मा, 'हिन्द स्वराज्य', नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1949.
11. गाँधी जी, 'रचनात्मक कार्यक्रम उसका रहस्य और स्थान', नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1949.
12. गाँधी, मोहनदास करमचन्द, अनुवादक सुशीला नैय्यर, आरोग्य की कुंजी, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1947.
13. सिन्हा, मनोज (सम्पादन), 'गाँधी अध्ययन', ओरिएण्ट ब्लैक स्वॉन, हैदराबाद, 2008
14. फड़िया, बी0एल0, 'भारतीय राजनीतिक चिन्तन', आगरा, 2012.
15. वर्मा, डॉ0 वी0पी0, 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', आगरा, 2017.
16. शरण, शंकर, 'गाँधी के ब्रह्मचर्य प्रयोग', राजपाल एण्ड सन्स, 2013.

शोधछात्र
मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ-226007
Email : 5898vikaskumar@gmail.com, मो. : 6387830687

लोक-संस्कृति के महामनीषी कीर्त्तिशेष श्री विजय वर्मा

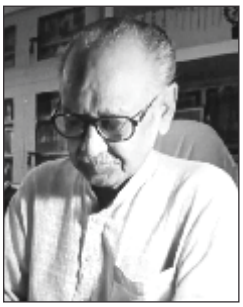

भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी के दायित्वों के सफलतापूर्वक निर्वहन के साथ-साथ लोकसंस्कृति के गहन अध्येता एवं मीमांसक के रूप में अपनी पहचान स्थापित करने वाले विजय वर्मा साहब का 18 जून, 2024 को जयपुर में निधन हो गया।

सन् 1990 में चित्तौड़गढ़ की तत्कालीन जिला कलक्टर डॉ. मालोविका जी पवार ने विजय वर्मा साहब की प्रेरणा से ही मीरा स्मृति संस्थान की नींव रखी थी। वे चित्तौड़गढ़ क्षेत्र की तुर्रा-कलंगी लोकनाट्य परम्परा और इसकी गायकी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने जवाहर कला केन्द्र में चित्तौड़गढ़ के अखाड़ा तुर्रा का दल आमंत्रित कर 'रूप बसंत' लोकनाट्य का मंचन करवाया और चित्तौड़गढ़ में तुर्रा और कलंगी अखाड़ों के गायक कलाकारों की कार्यशाला का आयोजन भी किया। अखाड़ा तुर्रा के वरिष्ठ खिलाड़ी नानालाल गन्धर्व की गायकी के तो वे मुरीद हो गए थे। इसी प्रकार सन् 1991 में उन्होंने मीरा स्मृति संस्थान के तत्वावधान में चित्तौड़ी खेड़ा में दो दिवसीय 'भवई कार्यशाला एवं नाट्य उत्सव' का आयोजन करवाया। तुर्रा अखाड़ा के वरिष्ठ कलाकार नानालाल गन्धर्व के आकस्मिक निधन के पश्चात् उनकी स्मृति में मीरा स्मृति संस्थान द्वारा आयोजित 'लोकनाट्य भरथरी-पिंगला' के मंचन में वे सक्रिय रूप से जुड़े।

विजय वर्मा साहब का मार्गदर्शन मीरा स्मृति संस्थान द्वारा आयोजित मीरा महोत्सवों और मीरा के जीवन एवं कृतित्व से सम्बन्धित राष्ट्रीय संगोष्ठियों में निरन्तर प्राप्त होता रहा है। सन् २००७ में जब 'मीरायन' त्रैमासिक, शोधपत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया तो आपने 'मानद् संरक्षक' के रूप में सकारात्मक मार्गदर्शन प्रदान किया।

सन् 1979 से 1982 की अवधि में वर्मा साहब के अधीन जनजाति क्षेत्रीय विकास विभाग उदयपुर में कार्य करने का मुझे अवसर मिला। आपकी प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में 1980 एवं 1981 में हमने उदयनिवास (उदयपुर) तथा गामड़ी अहाड़ा (डूंगरपुर) में 'Tribal Folk festivals' का आयोजन किया और डूंगरपुर के पुंजपुर गाँव में जोगियों द्वारा गाये जाने वाले लोककाव्य 'गलालैंग' का रिकार्डिंग किया।

श्री विजय वर्मा जी एक घुमक्कड़ शोध अध्येता रहे हैं। राजस्थान की लोकसंस्कृति, लोककलाओं, लोकसाहित्य एवं मन्दिर स्थापत्य शिल्प के क्षेत्र में उनका महती योगदान सदैव याद किया जाएगा। उनकी निजी लायब्रेरी तो शोध एवं सन्दर्भ का एक समृद्ध खजाना है। वर्मा साहब का देवलोक गमन संस्कृति एवं साहित्यजगत से जुड़े व्यक्तियों और संगठनों के लिए अपूरणीय क्षति है, जिसकी पूर्ति शायद ही हो सके।

विराट एवं बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी लोकसंस्कृतिविद् विजय वर्मा साहब के आकस्मिक निधन पर मीरा स्मृति संस्थान एवं मीरायन परिवार अश्रुपूरित श्रद्धांजलि अर्पित करता हैं।

- सत्यनारायण समदानी

अध्यक्ष, मीरा स्मृति संस्थान एवं सम्पादक - 'मीरायन'

मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़ के प्रकाशन

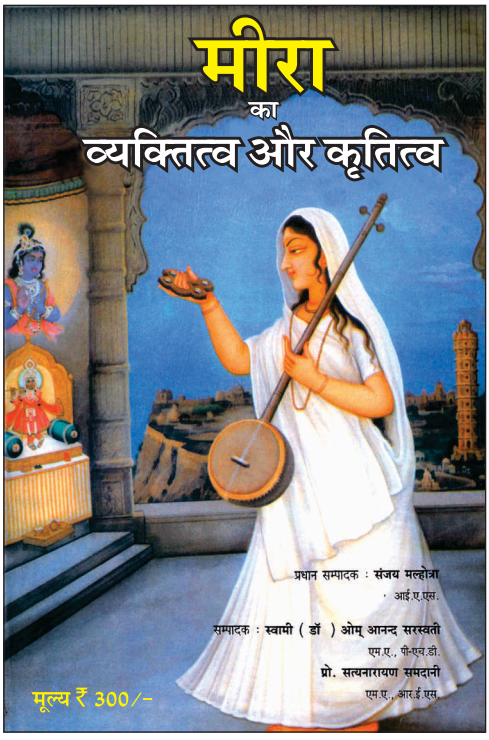

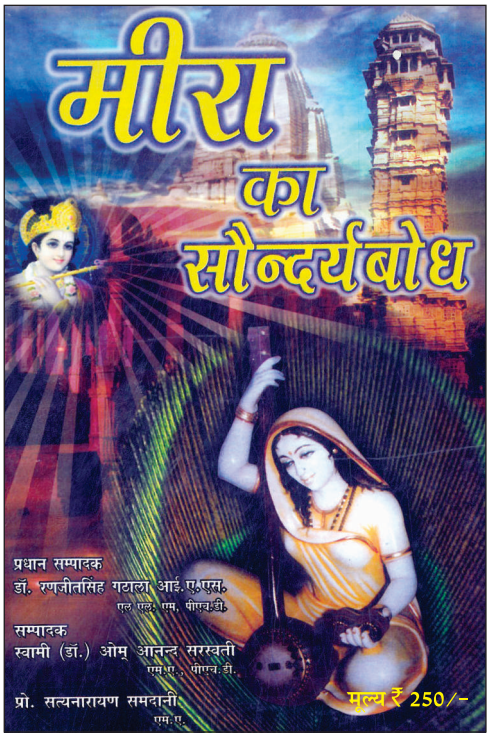

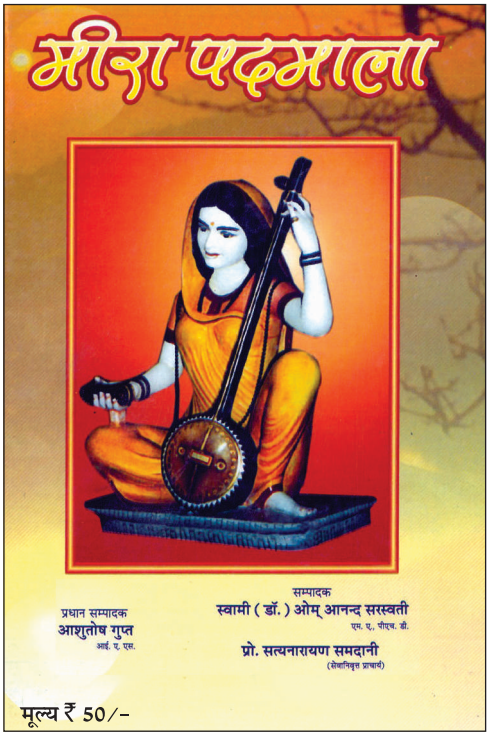

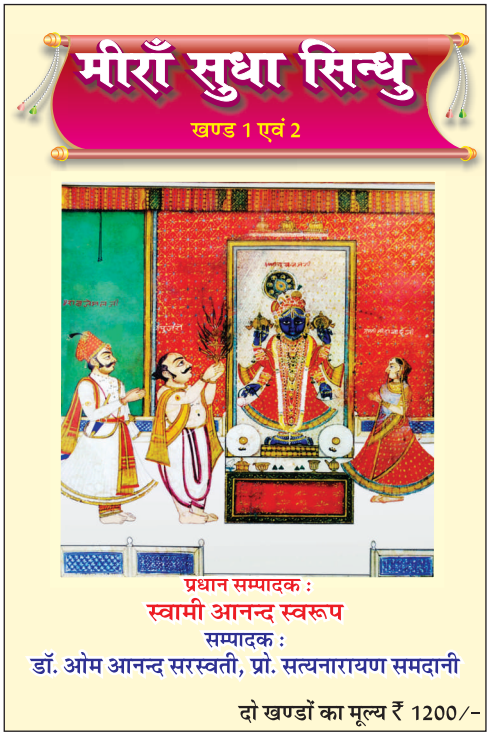

आर.एन.आई. पंजी. क्र. RAJHIN/2007/19628 जून–अगस्त, 2024

भारतीय विद्या (इण्डोलोजी) के महामनीषी, विश्वविख्यात पुरातत्वाचार्य,
इतिहास संशोधक, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, भारतीय विद्याभवन मुम्बई एवं
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के संस्थापक संचालक

पद्मश्री महर्षि मुनि जिनविजय जी

की 49 वीं पुण्य तिथि पर शत-शत नमन् एवं हार्दिक श्रद्धाँजलि

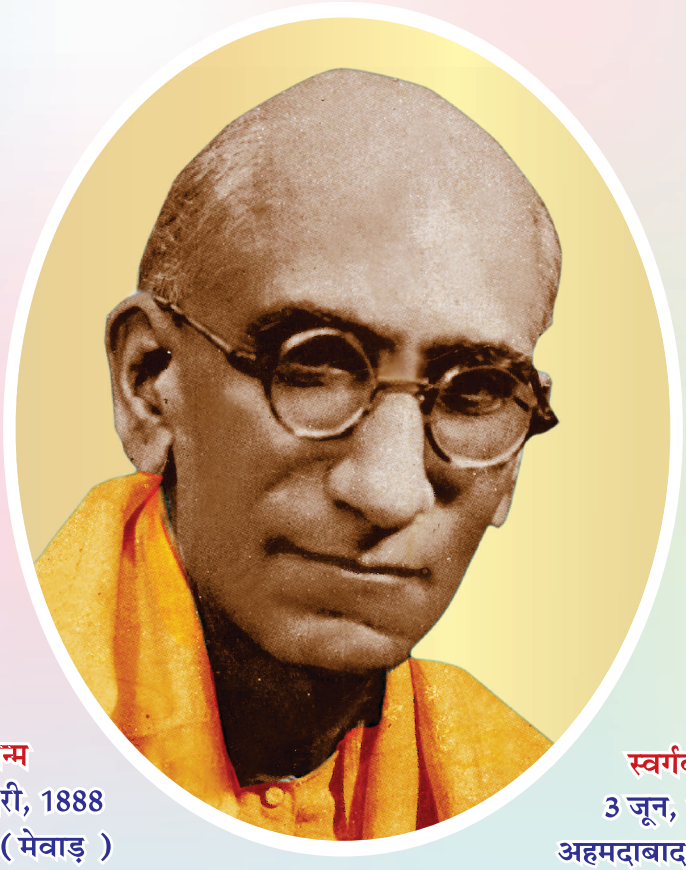

जन्म
27 जनवरी, 1888
रूपाहेली (मेवाड़)

स्वर्गवास
3 जून, 1976
अहमदाबाद (गुजरात)

प्रो. सत्यनारायण समदानी	डॉ. आनन्दीलाल जैन	नवरतन पटवारी
अध्यक्ष	प्रबन्धक ट्रस्टी	मंत्री

सर्वोदय साधना संघ, चन्देरिया (चित्तौड़गढ़)- राजस्थान

स्वामी सचिव मीरा स्मृति संस्थान, प्रकाशक सत्यनारायण समदानी द्वारा मकान नं. 25, फ्रेण्ड्स कॉलोनी, पार्वती गार्डन के पीछे, सेंथी, चित्तौड़गढ़-312001 (राज.) से प्रकाशित एवं मुद्रक पंकज सेठिया, 13, प्रथम ब्लॉक, न्यू क्लॉथ मार्केट चित्तौड़गढ़ के लिए चौधरी ऑफसेट प्रा.लि., 11–12, गुरु रामदास कॉलोनी, उदयपुर फोनः 0294–2584071, 2485784 से मुद्रित। सम्पादक-सत्यनारायण समदानी, मो. 9414148537